यह पुस्तक

किसी भी देश के वाङ्मय में वहाँ के महापुरुषों, राजनीतिक नेताओं और साहित्यकारों द्वारा लिखी गई आत्म-कथाओं का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। यूरोप में तो प्राय: वहाँ के सभी महान् नेताओं और साहित्यकारों ने आत्म-कथाओं के माध्यम से अपने जीवन के बहुमूल्य अनुभवों को देश तथा समाज के कल्याण के लिए लिपिबद्ध कर दिया है।

हमारे देश के राजनीतिक नेताओं ने थोड़ी-बहुत आत्म-कथाएँ लिखी भी हैं, किन्तु हिन्दी के साहित्यकारों के अनुभवों और कठिनाइयों पर प्रकाश डालने वाली कोई भी उल्लेखनीय पुस्तक नहीं मिलती, हिन्दी के इसी अभाव को दूर करने की हमारी बहुत दिनों से इच्छा थी। उसी के परिणाम स्वरूप यह पुस्तक पाठकों के हाथों में है।

कतिपय साहित्यकारों के आत्म-चरित

सम्पादक

क्षेमचन्द्र 'सुमन'

१९५२

आत्माराम एण्ड सन्स

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

काश्मीरी गेट

दिल्ली ६

प्रकाशक
रामलाल पुरी
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली ६

मूल्य
तीन रुपये

मुद्रक
श्यामकुमार गर्ग
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस
क्वीन्स रोड, दिल्ली ६

निवेदन

किसी भी देश के वाङ्मय में वहाँ के महापुरुषों, राजनीतिक नेताओं और साहित्यकारों द्वारा लिखी गई उनकी आत्म-कथाओं का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। यूरोप में तो प्रायः वहाँ के सभी महान् नेताओं और साहित्यकारों ने आत्म-कथाओं के माध्यम से अपने जीवन के बहुमूल्य अनुभवों को देश तथा समाज के कल्याण के लिए लिपिबद्ध कर दिया है। हमारे देश के राजनीतिक नेताओं ने थोड़ी-बहुत आत्म-कथाएँ लिखी भी हैं, किन्तु हिन्दी के साहित्यकारों के अनुभवों और कठिनाइयों पर प्रकाश डालने वाली कोई भी उल्लेखनीय पुस्तक नहीं मिलती। हिन्दी के इस अभाव को दूर करने की हमारी बहुत दिनों से इच्छा थी। उसी के परिणाम-स्वरूप प्रस्तुत पुस्तक पाठकों के हाथों में है।

हमने बहुत कठिनाइयों के बाद हिन्दी के कुछ साहित्यकारों के आत्म-चरित और उनके साहित्यिक विकास पर प्रकाश डालने वाली सामग्री इसमें एकत्रित की है। कवीन्द्र रवीन्द्र और शरच्चन्द्र की आत्म-कथाएँ हमने इसमें इसलिए समाविष्ट की हैं कि उनके साहित्य का हिन्दी-साहित्य के उन्नयन और परिवर्द्धन में पर्याप्त प्रभाव पड़ा है और वह हिन्दी-साहित्य के लिए सजीव प्रेरणा का काम देता रहा है। इससे विशेषतः हिन्दी की तरुण पीढ़ी और सामान्यतः समस्त हिन्दी-भाषी जगत् लाभान्वित होगा, ऐसा हमारा विश्वास है। जिन साहित्यकारों के आत्म-चरित इसमें संकलित किये गए हैं, उनके प्रति भी हम विनम्र आभार प्रदर्शित करते हैं। साथ ही हम यह भी आशा करते हैं कि हमारे इस प्रयत्न का प्रेमी पाठकों द्वारा समुचित स्वागत किया जायगा। यदि ऐसा हुआ तो हम निकट भविष्य में और दूसरे साहित्यकारों के आत्म-चरित भी प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे।

३९७१ हाथीखाना
पहाड़ी धीरज, दिल्ली ६

क्षेमचन्द्र 'सुमन'

क्रम

१

श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

कवीन्द्र रवीन्द्र का नाम कौन साहित्य-प्रेमी नहीं जानता। उनके कविता, कहानी, नाटक तथा उपन्यासों ने भारतीय साहित्य की अभिवृद्धि में जो योग-दान दिया है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी-साहित्य के उन्नयन में उनकी रचनाओं ने पर्याप्त प्रेरणा प्रदान की है। सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक क्षेत्र में उनके कार्य-कलापों का स्मरण आदर और श्रद्धा के साथ किया जाता है। 'गीताञ्जलि' उनकी अमर कृति और 'विश्व-भारती शान्ति निकेतन' उनकी सजीव स्मृति है। जब तक इन दोनों का अस्तित्व है तब तक कवीन्द्र रवीन्द्र भारत के साहित्याकाश में एक प्रेरक और ज्वलन्त प्रतीक बनकर चमकते रहेंगे।

मेरा बचपन

१

मैंने जन्म लिया था पुराने कलकत्ते में। शहर में उन दिनों छकड़े छड़-छड़ करते हुए धूल उड़ाते दौड़ा करते और रस्सी वाले चाबुक घोड़ों की हड्डी-निकली पीठ पर सटासट पड़ा करते। न ट्राम थी, न बस; और न मोटर गाड़ी। उन दिनों काम-काज की ऐसी दम फुला देने वाली ठेलम-ठेल नहीं थी। इतमीनान से दिन कटा करते थे। बाबू लोग तम्बाकू का कश खींचकर पान चबाते-चबाते आफिस जाते—कोई पालकी में और कोई साझे की गाड़ी में। जो लोग पैसे वाले थे उनकी गाड़ियों पर तमगे लगे होते। चमड़े के आधे घूँघट वाले कोचबक्स पर कोचवान बैठा करता, जिसके सिर पर बाँकी पगड़ी लहराती रहती थी। पीछे की ओर दो-दो सईस खड़े रहते, जिनकी कमर में चँवर झूलता होता। स्त्रियों का बाहर आना-जाना बन्द दरवाजे की पालकी के दम घुटा देने वाले अँधेरे में हुआ करता। गाड़ी पर चढ़ना शर्म की बात थी। धूप और वर्षा में उनके सिर पर छाता नहीं लग सकता था। किसी के बदन पर कमीज और पैर में जूता दिखा गया, तो इसे मेम साहबी फैशन कहा जाता; मतलब यह होता कि इसने लाज-हया घोलकर पी ली है। कोई स्त्री यदि अचानक पर-पुरुष के सामने पड़ जाती, तो उसका घूँघट सटाक से नाक की फुनगी को पार कर जाता और वह दाँतों-तले जीभ दबाकर झट पीठ फिरा देती। घर में जैसे उनका दरवाजा बन्द हुआ करता, वैसे ही बाहर निकलने की पालकी में भी। बड़े आदमियों की बहू-बेटियों की पालकी पर एक मोटे घटाटोप-सा पर्दा पड़ा रहता, जो देखने में चलते-फिरते कब्रगाह के समान लगता। साथ-साथ

पीतल की गोप वाली लाठी लिये दरवानजी चला करते। इनका काम था—दरवाजे पर बैठकर घर अगोरना, गलमुच्छें सहलाना, बैंक में रुपये और रिश्तेदारी में स्त्रियों को पहुँचाना और त्योहार के दिन बन्द पालकी-समेत मालकिन को गंगा में से डुबकी लगवा लाना। दरवाजे पर फेरी वाले अपना सन्दूकचा सजाकर आया करते, जिनमें शिवनन्दन का भी हिस्सा हुआ करता। और फिर भाड़े वाली गाड़ी का गाड़ीवान था, जो बाँट-बखरे के मामले में नाराज़ होता, तो ड्योढ़ी के सामने पूरा टंटा खड़ा कर देता। बीच-बीच में हमारा पहलवान जमादार शोभाराम बाँव कसता, वजन-दार मुगदर घुमाता, बैठा-बैठा भंग घोटता और कभी-कभी बड़े आराम से पत्तों समेत-कच्ची मूली चबा जाता; और हम लोग उसके कान के पास जोर से चिल्ला उठते— 'राधाकृष्ण!' वह जितना ही हाँ-हाँ करके हाथ-पैर पीटता, उतनी ही हमारी जिद बढ़ती जाती। इष्टदेवता का नाम सुनने की यह उसकी फन्दी थी।

उन दिनों शहर में न तो गैस थी, न बिजली-बत्ती। बाद में जब मिट्टी के तेल का उजेला आया, तो हम उसका तेज देखकर हैरान हो रहे। साँझ को फरास आता और घर-घर रेंडी के तेल का दीया जल जाता। हमारे पढ़ने के घर में दो बातियों का एक दीया दीवट पर जला करता।

मास्टर साहब टिमटिमाते प्रकाश में प्यारी सरकार की फर्स्ट बुक पढ़ाया करते। मुझे पहले तो जम्हाई आती, फिर नींद और फिर आँख की मीजाई शुरू होती। बार-बार सुनना पड़ता कि मास्टर साहब का कोई एक दूसरा विद्यार्थी सतीन लड़का क्या है, सोने का टुकड़ा है। पढ़ाई में ऐसा दिल लगाता है कि लोग अचरज करते हैं। नींद आती है, तो आँखों में सुर्ती की बुकनी रगड़ लेता है। और मैं? न कहना ही अच्छा है। सब लड़कों में अकेले मूर्ख होकर रहने के समान गन्दी भावना भी मुझे होश में

न ला पाती। रात के नौ बजे जब आँखें नींद से ढुलमुला जातीं, तो छुट्टी मिलती। बाहर के बैठकखाने से घर के भीतर जाने के सँकरे रास्ते पर झिलमिल (वेनेशियन ब्लिड) का पर्दा टँगा होता और ऊपर टिमटिमाते हुए प्रकाश की लालटेन झूला करती। जब मैं उधर से गुजरता, तो दिल कहता रहता कि न जाने क्या पीछा कर रहा है। पीठ सनसना उठती। उन दिनों भूत-प्रेत किस्से कहानियों में रहा करते और आदमी के मन के कोने-कोने में विराजमान होते। कोई महरी अचानक चुड़ैल की नकियान सुनती और धड़ाम-से पछाड़ खाकर गिर पड़ती। यह भूतनी ही सबसे अधिक बदमिजाज थी। वह महरी पर ज्यादा चोट करती थी। घर के पश्चिमी कोने पर एक घने पत्तों वाला बादाम का पेड़ था। एक पैर इसकी डाल पर और दूसरा पैर तितल्ले के कार्निस पर रखकर कोई एक मूर्ति प्रायः ही खड़ी रहा करती—इसे देखा है, ऐसा कहने वाले उन दिनों अनेक थे। विश्वास करने वाले भी कम नहीं थे। बड़े दादा के एक मित्र जब इन गप्पों को हँसकर उड़ा देते तो नौकर-चाकर समझते कि इस आदमी को धरम-करम का ज्ञान एकदम है ही नहीं; जब एक दिन गर्दन मरोड़ देगा, तो सारा ज्ञान बघारना निकल जायगा। आतङ्क ने उन दिनों चारों ओर अपना जाल ऐसा फैला रखा था कि मेज़ के नीचे पैर रखने से पैर सनसना उठते थे।

तब पानी का नल नहीं लगा था। माघ-फागुन के महीनों में कहार काँवर भर-भरकर गंगा से पानी लाते थे। एक तल्ले के अँधेरे घर में बड़े-बड़े कूण्डे रखे हुए थे। इन्हीं में साल-भर के लिए पानी रखा रहता। उन सील-भरी अँधेरी कोठरियों में जो लोग डेरा डाले हुए थे, कौन नहीं जानता कि वे मुँह बाये रहते थे, आँखें उनकी छाती पर हुआ करती थीं, दोनों कान सूप के समान होते थे और दोनों पैर उल्टी तरफ मुड़े हुए होते थे। मैं

जब सुनहरी छाया के सामने से मकान के भीतर के बगीचे की ओर जाता, तो हृदय के भीतर उथल-पुथल मच जाती, पैरों में तेजी आ जाती।

उन दिनों रास्ते के किनारे-किनारे नाले बँधे हुए थे। ज्वार के समय उन्हीं से होकर गंगा का पानी आया करता। बाबा के जमाने से ही उस नाले के पानी का हकदार हमारा तालाब रहता आया था। जब किवाड़ खोल दिए जाते तो झर-झर कल-कल करता हुआ पानी झरने के समान झरता और नीचे का हिस्सा फेन से भर जाता। मछलियों को उल्टी तरफ तैरने की कसरत दिखाने की सूझती। मैं दक्खिन के बरामदे की रेलिंग पकड़कर अवाक् होकर देखा करता। आखिरकार उस तालाब का काल भी आ पहुँचा और उसमें गाड़ियों में भर-भरकर गन्दगी डाली जाने लगी। तालाब के पटते ही देहाती हरियाली की छाया वाला वह आईना भी मानो हट गया। वह बदाम वाला पेड़ अब भी खड़ा है; लेकिन पैर फैलाकर खड़े होने की इतनी सुविधा होते हुए भी उस ब्रह्मदैत्य का पता अब नहीं चलता।

भीतर और बाहर प्रकाश बढ़ गया है।

२

पालकी दादी के जमाने की थी—काफी लम्बी-चौड़ी, नवाबी कायदे की। दोनों डण्डे आठ-आठ कहारों के कन्धे की माप के थे। हाथों में सोने के कंगन, कानों में सोने के कुण्डल और शरीर पर लाल रंग की हथकट्टी मिरजई पहनने वाले वे कहार भी पुरानी धन-दौलत के साथ उसी तरह लोप हो गए, जैसे डूबते हुए सूर्य के साथ ही रंगीन बादल। पालकी के ऊपर रंगीन लकीरों के कटाव कटे हुए थे। इसके कुछ हिस्से [illegible] हो गए थे। जहाँ-तहाँ दाग लगे हुए थे और भीतर के गद्दे में से नारियल

के भिरकुट बाहर निकल आए थे। यह मानो इस जमाने का कोई नाम-कटा असबाब था, जो खजांचीखाने के एक कोने में डाल दिया गया था। मेरी उम्र इन दिनों सात-आठ साल की होगी। इस संसार के किसी जरूरी काम में मेरा कोई हाथ नहीं था और यह पुरानी पालकी भी सभी जरूरत के कामों से बरखास्त कर दी गई थी। इसीलिए उस पर मेरे मन का इतना खिंचाव था। वह मानो समुद्र के बीच का एक छोटा-सा टापू थी और मैं छुट्टी के दिन का राबिन्सन क्रूसो, जो बन्द दरवाजे में गुमराह होकर चारों ओर की नजर बचाकर बैठा हूँ।

उन दिनों हमारा घर आदमियों से भरा था। कितने अपने, कितने पराये, कुछ ठीक नहीं। परिवार के अलग-अलग कई महकमों के दास-दासियों का शोर-गुल बराबर मचा रहता था।

सामने के आँगन से पियारी महरी काँख-तले टोकरी दबाये साग-भाजी का बाजार किये आ रही है। दुक्खन कहार कन्धे पर काँवर रखकर गंगा का पानी लिये आ रहा है। ताँतिन नये फैशन की पाढ़वाली साड़ी का सौदा करने घर के भीतर घुसी जा रही है। माहवारी मजूरी पाने वाला दीनू सुनार, जो पास की गली में बैठा-बैठा भाथी फसफसाया करता है और घर की फर्माइशें पूरी करता रहता है, खजांचीखाने में कान में पाँख की कलम खोंसे हुए कैलाश मुखुज्जे के पास अपने बकाया का दावा करने चला आ रहा है। आँगन में बैठा हुआ धुनिया पुरानी रजाई की रूई धुन रहा है। बाहर काने पहलवान के साथ मुकुन्दलाल दरबान लस्टम-पस्टम करता हुआ कुश्ती के दाँव-पेंच भर रहा है। वह चटाचट आवाज के साथ दोनों पैरों में चपेटा मारता जारहा है और बीस-पच्चीस बार लगातार डण्ड पेल लेता है। भिखारियों का दल अपने हिस्से की भीख के आसरे बैठा हुआ है।

दिन चढ़ता जाता है, धूप कड़ी होती आती है, ड्योढ़ी पर

घण्टा बज उठता है। पर पालकी के भीतर का दिन घण्टे का हिसाब नहीं मानता। वहाँ का 'बारह बजे' वही पुराने ज़माने का है, जब राज-भवन के सिंह-द्वार पर सभा-भंग का डंका बजा करता, राजा चन्दन के जल से स्नान करने उठ जाते। छुट्टी के दिन दोपहरी को मैं जिनकी देख-रेख में हूँ, वे सभी खा-पीकर सो रहे हैं। अकेला बैठा हूँ। चलने का रास्ता मेरी ही मर्जी पर निकाला गया है। उसी रास्ते मेरी पालकी दूर-दूर के देश-देशान्तर को चली है। उन देशों के नाम मैंने ही अपनी किताबी विद्या के अनुसार गढ़ लिए हैं। कभी-कभी रास्ता घने जंगल के भीतर घुस जाता है, (जहाँ)बाघ की आँखें चमक रही हैं। शरीर सनसना रहा है। साथ में विश्वनाथ शिकारी है। उसकी बन्दूक धाँय से छूटी। बस, सब चुप। इसके बाद एक बार पालकी का चेहरा बदल गया, वह बन गई मोरपंखी बजरा, वह चली समुद्र में, किनारा दिखाई नहीं देता। डाँड पानी में गिर रहे हैं—छप्-छप् छप् छप्। लहरें उठ रही हैं—हिलती-डुलती, फूलती फुफकारती। मल्लाह चिल्ला उठते हैं—सँभालो, सँभालो, आँधी आई। पतवार के पास अब्दुल माझी बैठा है—नुकीली दाढ़ी, सफाचट मूँछें, घुटी चाँद। उसे मैं पहचानता हूँ। वह दादा के लिए पद्मा में से मछली ला देता है और ले आता है कछुए के अण्डे।

उसने मुझे एक कहानी सुनाई थी। एक दिन चैत के महीने के अन्त में, जब कि वह डोंगी से मछली मारने गया था, अचानक कालबैसाखी की आँधी आ गई।

भयंकर तूफान। नाव अब डूबी, अब डूबी। अब्दुल ने दाँत से रस्सी पकड़ी और कूद पड़ा पानी में। तैरकर रेती पर आ खड़ा हुआ और रस्सी से खींचकर अपनी डोंगी निकाल लाया।

कहानी इतनी जल्दी खतम हो गई,यह मुझे अच्छा नहीं लगा, नाव डूबी नहीं, यों ही बच गई, यह तो कोई कहानी ही नहीं

हुई। बार-बार पूछने लगा—फिर क्या हुआ? उसने कहा—फिर तो एक नया टण्टा खड़ा हो गया। क्या देखता हूँ कि एक लकड़ बग्घा है। ये बड़ी-बड़ी उसकी मूँछें हैं। आँधी के समय उस पार के गंज-घाटवाले पाकड़ के पेड़ पर चढ़ गया था। इधर आँधी का एक झोंका लगा, उधर सारा पेड़ पत्ता नदी में आ गिरा, और बाघराम बह चले पानी की धार में। पानी पीते-पीते उसका दम फूल गया था। वह उसी रेती पर आ खड़ा हुआ। उसे देखते ही मैंने अपनी रस्सी में फँसरी लगाई। वह पट्ठा भी बड़ी डरावनी आँखें लाल किये हुए ठीक मेरे सामने आ खड़ा हुआ। तैरने से उसे भूख लग आई थी। मुझे देखते ही उसकी लाल-लाल जीभ से लार टपकने लगी। बाहर और भीतर के बहुतेरों से उसकी जान-पहचान हो गई है; पर बच्चा अब्दुल को नहीं पहचानते। मैंने ललकारा—आ जाओ बच्चाराम! इधर वह दोनों पैरों पर खड़ा होता है, उधर मैंने गले में फँसरी डाल दी। छुड़ाने के लिए बच्चू जितने ही छटपटाते हैं, उतनी ही फँसरी कसती जाती है। अन्त में जीभ निकल आई। यहीं तक सुन-कर मैं हड़बड़ाकर बोल उठा—अब्दुल, वह मर गया क्या? मरेगा कैसे? उसके बाप की मजाल है! नदी में बाढ़ आई है। बहादुरगंज तक तो लौटना है न? डोंगी में बाँधकर इस बाघ के पट्ठे से कम-से-कम बीस कोस रास्ता खिंचवाया। गों-गों करता रहता था और मैं ऊपर से पेट में डाँड़से खोंचता रहता था दस-पन्द्रह घण्टे का रास्ता डेढ़ घण्टे में पहुँचा दिया। इसके बाद की बात अब मत पूछो लल्ला, जवाब नहीं मिलेगा। मैंने कहा—बहुत अच्छा। बाघ तो हुआ, अब घड़ियाल की कहो। अब्दुल ने कहा—पानी के ऊपर उसकी नाक की फुनगी मैंने कई बार देखी है। नदी के ढालुए किनारे पर जब वह पैर फैलाकर सोया हुआ धूप तापता रहता है, तो जान पड़ता है कि बड़ी बुरी हँसी

हँस रहा है। बन्दूक होती, तो मुकाबला किया जाता। लाइसेंस खत्म हो गया है।

लेकिन एक मजेदार बात हुई। कच्चे तीरपर बेदनी बैठी दाव से बत्ता छील रही थी। उसका मेमना पास ही बँधा था न जाने कब एक घड़ियाल नदी से बाहर निकला और मेमने की टाँग पकड़कर उसे पानी में घसीट ले गया। बेदनी झट कूदकर उसकी पीठ पर सवार हो गई। दाव से उस गिरगिट-दैत्य (घड़ियाल) के गले पर लगी छेंव मारने। और मेमने को छोड़कर वह जन्तु पानी में डूब गया। मैंने व्यस्त होकर पूछा—फिर क्या हुआ? अब्दुल ने कहा—उसके बाद की खबर तो पानी में ही डूब गई। निकालकर बाहर ले आने में देर लगेगी। दूसरी बार जब भेंट होगी, तो चर भेजकर उसकी तलाश कराऊँगा। लेकिन वह फिर लौटा नहीं। शायद तलाश करने गया है।

यह तो थी पालकी के भीतर मेरी यात्रा। पालकी के बाहर मेरी मास्टरी चलती। सारे रेलिंग मेरे विद्यार्थी थे। मारे डर के चुप रहा करते। एकाध बड़े शरारती थे। पढ़ने लिखने में बिलकुल मन नहीं लगाते थे। उन्हें मैं डर दिखाया करता कि बड़े होने पर कुली का काम करना पड़ेगा। मार खाते-खाते इनके शरीर में नीचे से ऊपर तक दाग निकल आये थे, फिर भी इनकी शरारत जाती नहीं थी, क्योंकि यदि इनकी शरारत रुक जाती, तो काम कैसे चलता, खेल ही खत्म हो जाता। काठ के एक सिंह को लेकर एक और खेल भी था। पूजा में बलिदान की कहानी सुनकर सोचा था कि सिंहको बलि देने पर एक भारी बावेला खड़ा हो जायगा। उसकी पीठ पर लकड़ी से कई झटके मारे। मन्तर बनाना पड़ा था नहीं तो पूजा ही न हो पाती :

सिंग (सिंह) मामा काटुम
आन्दिबो सेर बाटुम

उलकुट दुलकुट् ढैम कुड़् कुड़्
आखरोट बाखरोट खट-खट खटास
पट-पट पटास !

इसमें प्रायः सभी शब्द उधार के थे। केवल 'आखरोट' (अखरोट) मेरा अपना है। अखरोट मुझे बहुत पसन्द थे। खटास शब्द से जान पड़ेगा कि मेरा खड्ग काठ का था और पटास शब्द बता देता है कि वह मजबूत नहीं था।

३

कल रात से ही बादलों ने कुछ उठा नहीं रखा है। पानी बरसता ही जा रहा है। पेड़ बेवकूफ की तरह जब से खड़े हैं। चिड़ियों की आवाज बन्द है। आज याद आ रही है अपने बचपन की साँझ।

उन दिनों हमारा यह समय नौकरों के साथ बीतता। तब भी अंग्रेजी शब्दों के हिज्जे और माने याद करने की छाती धड़कने वाली साँझ हमारी गरदन पर सवार नहीं हुई थी। मँझले दादा कहा करते थे कि पहले बँगला भाषा की कुढ़ाई हो लेनी चाहिए, तब फिर उसके ऊपर अँग्रेजी भाषा की नींव दी जा सकती है। इसलिए उस समय जब टोले-मुहल्ले के हमारी उमर के और पढ़ाकू लड़के धड़ाधड़ घोख जाते I am up मैं हूँ ऊपर, He is doun वह है नीचे, तब तक मेरी विद्या बी-ए-डी बैड, एम-ए-डी मैड तक भी नहीं पहुँची थी।

नवाबी जबान में उन दिनों नौकर-चाकरों के हिस्से के मकान को तोशाखाना कहा जाता था। यद्यपि पुरानी अमीरी से हमारा मकान बहुत नीचे उतर आया था, फिर भी तोशाखाना, दफ्तरखाना, बैठक खाना—ये सब नाम दीवार से चिमटे हुए पड़े थे।

इसी तोशाखाने के दक्खिणी हिस्से के एक घर में काँच की

दीवट पर रेंड़ी के तेल का एक दीया टिमटिमा रहा है। दीवार पर गणेश मार्का तस्वीर और काली मैया का पट लगा हुआ है। पास ही छिपकली कीड़ों का शिकार करने में मशगूल है। घर में और कोई सामान नहीं हैं। फर्श पर एक मैली चटाई बिछी हुई है।

यहाँ बता रखूँ कि हमारी चाल-ढाल गरीबों-जैसी थी। गाड़ी-घोड़े की कोई बला नाम-मात्र को ही थी। बाहर कोने की ओर इमली के पेड़ के नीचे फूस के घर में एक बग्घी और एक बूढ़ा घोड़ा बँधा रहता था। पहनने के कपड़े निहायत सादे होते थे। पैर में मोजा लगाने की नौबत बहुत देर के बाद आई थी। जब ब्रजेश्वर के चिट्ठे को लाँघकर जल-पान में पाव रोटी और केले के पत्ते में लपेटा हुआ मक्खन नसीब हुआ, तो ऐसा लगा, मानो आसमान हाथ की पहुँच के भीतर आ गया हो। पुराने जमाने की बड़ी आदमीयत को सहज ही मान लेने की तालीम चल रही थी।

हमारी इस चटाई-बिछी महफिल का जो सरदार था, उसका नाम था ब्रजेश्वर। सिर और मूँछों के बाल गंगा-जमुनी, मुँह के ऊपर झूलती हुई सूखी झुर्रियाँ, गम्भीर मिजाज, कड़ा गला, चबा-चबाकर बोली हुई बातें। उसके पुराने मालिक लक्ष्मीकान्त नामी-गरामी रईस थे। वहाँ से उसे उतरना पड़ा था—हमारे-जैसे उपेक्षा में पले लड़कों की निगरानी के काम में। सुना था, गाँव की पाठशाला में वह गुरुगीरी का काम कर चुका था। वह गुरु-आनी चाल और बोली उसके पास अन्त तक बनी रही। "बाबू लोग बैठे हैं"—ऐसा न कहकर वह कहता—"प्रतीक्षा कर रहे हैं।" सुनकर मालिक लोग आपस में हँसा करते। जैसा ही उसका गुमान था, वैसा ही पवित्रता की बाई भी थी। स्नान के समय जब तालाब में उतरता, तो ऊपर के पानी को, जिसमें तेल उतरता रहता था, पाँच-सात बार ठेलता और फिर धप-से

डुबकी लगा लेता। स्नान के बाद ब्रजेश्वर इस प्रकार हाथ सिकोड़कर चलता, मानो किसी प्रकार विधाता की इस गन्दी धरती से बचकर चलने से ही उसकी जाति बच सकेगी। चाल-चलन में कौन सी बात अच्छी है, कौनसी बुरी, इसे वह एक खास लहजे में जोर देकर कहा करता। इधर उसकी गर्दन भी कुछ टेढ़ी थी, इससे उसकी बात की इज्जत भी बढ़ जाती। किन्तु इन सारी बातों के होते हुए भी उसकी गुरुगीरी में एक दोष भी था। भीतर-ही-भीतर उसके मन में भोजन का लोभ दबा हुआ था। हमारी थालियों में पहले से ही अच्छी तरह सबके हिस्से का खाना परोस रखने की उसकी आदत न थी। जब हम खाने बैठते, तो एक-एक पूड़ी अलग से ही हाथ में झुलाता हुआ पूछता—और दूँ ? कौन सा जवाब उसके मन-माफिक है, यह बात उसके गले की आवाज से भली-भाँति समझ में आ जाती थी। अक्सर मैं यही जवाब देता कि कुछ नहीं चाहिए। फिर इसके बाद वह कोई आग्रह न करता। दूध के कटोरे पर भी उसका खिंचाव उसकी सँभाल के बाहर था। उसके घर में एक छोटी शेल्फ वाली अलमारी थी। उसी में पीतल के कटोरे में दूध और काठ के कठौत में पूड़ी-तरकारी रखी होती। बिल्ली का लोभ जाली के बाहर की हवा सूँघ-सूँघकर चक्कर मारा करता।

इसी तरह थोड़ा खाना मेरे बचपन से ही बड़े मजे में बर-दाश्त हो गया। कैसे कहूँ, इस कम खुराकी से मैं कमजोर हो गया था। जो लड़के खाने में कसर नहीं रखते थे उनकी तुलना में मेरे शरीर में जोर कुछ ज्यादा ही था, कम तो हर्गिज नहीं। शरीर इस बुरी तरह से तन्दुरुस्त था कि स्कूल से भागने का इरादा जब हैरान करने लगता, तो शरीर पर तरह-तरह के जुल्म करके भी उसमें बीमारी नहीं पैदा कर पाता। पानी में भिगोया

हुआ जूता पहनकर दिन-भर घूमता रहा, सर्दी नहीं हुई। कातिक के महीने में खुली छत पर सोता रहा। कुर्ता और बाल भीग गए, लेकिन गले में जरा-सी खुसखुसाहट वाली खाँसी का टेर भी नहीं पाया गया। और पेट में दर्द नामक भीतरी बदहज़मी की जो सूचना मिला करती है, उसे मैंने कभी पेट में अनुभव ही नहीं किया, सिर्फ जरूरत के समय माँ को मुँह से कहकर बता दिया है। सुनकर मन-ही-मन हँसती। जरा भी चिन्ता करती हों, ऐसा कभी नहीं जान पड़ा। तो भी नौकर को बुलाकर कहतीं—जा, मास्टर से कह दे कि आज पढ़ाने की जरूरत नहीं। हमारी उस जमाने की माँ सोचतीं—लड़का अगर बीच-बीच में पढ़ाई में थोड़ा कोता ही कर ले, तो इससे ऐसा क्या नुकसान हुआ जाता है। आजकल की माँ के हाथ पड़ता, तो मास्टर के पास तो जाना ही पड़ता, ऊपर से कान भी मल दिया जाता। शायद जरा हँस कर (आधुनिक माँ) कास्टर आयल भी पिला देतीं। बीमारी हमेशा के लिए दूर हो जाती। दैवयोग से यदि मुझे कभी ज्वर आ जाता, तो कोई उसे ज्वर या बुखार कहता ही नहीं। कहता—शरीर गरम हुआ है। नीलमाधव डॉक्टर आते, थर्मामीटर तो उन दिनों आँखों से देखा भी नहीं था। डॉक्टर जरा शरीर पर हाथ रखकर ही पहले दिन तो कास्टर आयल और उपवास की व्यवस्था करते। पानी बहुत थोड़ा पीने को मिलता, जो मिलता वह भी गर्म। उसके साथ इलायची के दाने चल सकते थे। तीन दिन के बाद ही मौरला मछली का शोरबा और खूब गला हुआ भात उपवास के बाद अमृत जैसा लगता।

बुखार में पड़े रहना किसे कहते हैं, याद नहीं आता। मलेरिया शब्द सुना ही नहीं था। वह तेल उल्टी कराने वाली दवाओं का राजा था, किन्तु कुनैन की याद नहीं आती। फोड़ा चीरने वाली छुरी की खरोंच शरीर पर किसी दिन भी अनुभव

नहीं की। माता या गोटी निकलना किसे कहते हैं, आज तक नहीं जान सका। शरीर में उबा देने वाली एक ही जैसी तन्दुरुस्ती बराबर बनी रही। माताएँ यदि अपने बच्चों के शरीर को इतना नीरोग बनाना चाहती हों कि वह मास्टर के हाथ से बचने का मौक़ा न पा सके, तो उन्हें ब्रजेश्वर के समान नौकर खोजना चाहिए। खाने के ख़र्च के साथ-ही-साथ वह डॉक्टर का ख़र्च भी बचायगा—विशेषकर इन दिनों, जब कल के आटे और घासलेटी घी का प्रचार बढ़ा हुआ है। एक बात याद रखने की है। उन दिनों बाजार में चाकलेट नहीं दिखाई दिया था। मिलती थीं एक पैसे वाली गुलाबी रेवड़ियाँ। गुलाबी ख़ुशबू से बसे हुए ये तिल से ढके चीनी के ढेले आज भी लड़कों की जेब को चटचटा देते हैं कि नहीं, पता नहीं। ये (रेवड़ियाँ) निश्चय ही आजकल के मानी लोगों के घर से मारे शर्म के भाग खड़ी हुई हैं। वे भुने मसालेवाले ठोंगे आज कहाँ चले गए? और वह सस्ते दामों का तिलवाला गजा? वह क्या अब भी टिका हुआ है? न टिका हो, तो फिर लाने की कोई जरूरत नहीं।

ब्रजेश्वर के पास प्रतिदिन बैठकर मैंने कृत्तिवास की सातों काण्ड रामायण सुनी है। उसी पाठ के सिलसिले में बीच-बीच में किशोरी चाटुज्जे आ जाता। उसे सारी रामायण की 'पांचाली' सुर-समेत याद थी। वह अचानक आसन पर दखल कर लेता और कृत्तिवास को लाँघकर हड़हड़ाते हुए अपनी पांचाली का पाठ सुना जाता—'ओरे रे लक्खन, ए कि अलक्खन, विपद घटेछे बिलक्खन!' उसके मुँह पर हँसी और माथे पर गंजी चाँद चमकती रहती। गले से काव्य-रचना की पंक्तियाँ झरने के समान कलरव करती हुई झरा करतीं और पद-पद पर तुक इस प्रकार बज उठते, जैसे पानी के नीचे लुढ़ियाँ। इसके साथ ही हाथ-पैर हिला-हिलाकर भाव बताने का काम भी चलता रहता।

किशोरी चाटुज्जे का सबसे बड़ा अफसोस यह था कि दादा-भैया—अर्थात् मैं— ऐसा सुन्दर गला पाकर भी पांचली वालों के दल में भरती न हो सके। हो सकते, तो फिर भी देश में एक नाम रह जाता।

रात हो आती और बिछी चटाई वाली यह मजलिस भी भंग हो जाती। भूत के भय को पीठ की रीढ़ पर लादकर घर के भीतर माँ के कमरे में चला जाता। माँ उस समय अपनी काकी के साथ ताश खेलती होतीं। पंख का काम किया हुआ घर हाथीदाँत के समान चमकता रहता। एक बड़ी-सी चौकी पर जाजिम बिछी होती। मैं जाते ही ऐसा उत्पात शुरू कर देता कि वे हाथ के पत्तों को फेंककर बोल उठतीं—लगा ऊधम मचाने। जाओ काकी, इनको कहानी सुनाओ। हम लोग बाहर के बरामदे में रखे हुए लोटे के पानी से पैर धो-धोकर नानी को खींचकर बिछौने पर ले जाते। वहाँ दैत्यपुरी से राज-कन्या की नींद उचटा लाने का अंश शुरू होता। लेकिन बीच में मेरी नींद को कौन उचटाये? रात के पहले पहर में सियार चिल्ला उठते। तब भी सियार की आवाज वाली रात कलकत्ते के किसी-किसी पुराने घर की भीत के नीचे चिल्ला उठता।

२

श्री शरच्चन्द्र चटर्जी

शरत् का स्थान भारतीय साहित्य में अनन्य और अक्षुण्ण है। आज हमारा साहित्य जिस प्रगति के पथ पर आरूढ़ है, वह जिन साहित्य साधकों के अथक उद्योग और कार्य-क्षमता का परिणाम है, उनमें शरत् अग्रणी हैं। हिन्दी ही नहीं प्रत्युत भारत की सभी समृद्ध भाषाओं के साहित्य पर उनकी रचनाओं का प्रभाव समान रूप से पड़ा है। सामान्यतः सभी और विशेषतः उपन्यास तथा कहानी के क्षेत्र में उन्होंने नवीन दिशा का निर्देश किया है। अकेले 'शेष प्रश्न' तथा 'श्रीकान्त' उपन्यास ही उनको सदा-सर्वदा के लिए अमर बनाये रहेंगे। उनके 'पथ के दावेदार' ने भारतीय राष्ट्रीय जागरण की दिशा में जो आलोक प्रदान किया है, वह अभिनन्दनीय है।

आत्म-चर्चा

मेरा शैशव-काल और युवावस्था घोर दारिद्र्य में बीते हैं। धन की कमी के कारण ही शिक्षा-लाभ का सौभाग्य मुझे प्राप्त नहीं हुआ। उत्तराधिकार के रूप में पिता से अस्थिर स्वभाव और गम्भीर साहित्यानुराग के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिला। पिता के दिये हुए पहले गुण ने मुझसे घर छुड़वाया और मैं सारा हिन्दुस्तान घूम आया। पिता के दूसरे गुण के फलस्वरूप मैं सारे जीवन स्वप्न ही देखता रहा। मेरे पिता का पाण्डित्य गम्भीर था। छोटी कहानियाँ, उपन्यास, नाटक, कविता आदि साहित्य के सभी विभागों में उन्होंने हस्तक्षेप किया था। लेकिन समाप्त वे किसी को भी नहीं कर सके। उनकी असमाप्त रचनाएँ आज मेरे पास नहीं हैं। कब, कैसे खो गईं—यह बात आज याद नहीं आती; लेकिन यह तो साफ याद है कि बचपन में कितनी ही बार उनकी असमाप्त रचनाओं को लेकर मैंने घण्टों बिता दिए थे। इन्हें वे क्यों समाप्त नहीं कर गए, इस बात को लेकर मैंने न जाने कितना दुःख प्रकट किया है। असमाप्त अंश क्या हो सकते हैं, इसको सोचते-सोचते मैंने कितनी ही विनिद्र रातें काटी हैं। शायद इसीलिए मैंने १७ साल की उम्र में ही कहानी लिखना शुरू किया। लेकिन कुछ ही दिनों के बाद कहानी लिखना निठल्लों का काम समझकर मैंने उसका अभ्यास छोड़ दिया। इसके बाद कितने ही वर्ष बीत गए। मैंने किसी समय एक भी पंक्ति लिखी थी, इस बात को मैं भूल ही गया।

१८ वर्ष के बाद एक दिन सहसा फिर लिखना आरम्भ किया। इसका कारण एक दैवी दुर्घटना-सा ही है। मेरे कुछ पुराने मित्रों ने एक छोटी मासिक पत्रिका निकालने की तैयारी की, लेकिन

प्रतिष्ठित लेखकों में से कोई भी इस छोटी पत्रिकामें अपनी रचना देने को राजी न हुआ। लाचार होकर उनमें से किसी-किसी ने मुझे याद किया और बहुतेरी कोशिशों के बाद रचनाएँ भेजने का वचन मुझसे ले ही लिया। यह सन् १९१३ की बात है। मैं नीम-राजी हुआ था। किसी तरह उनके हाथों से छुटकारा पाने के लिए ही मैंने रचनाएं देना स्वीकार किया था। इरादा यह था कि किसी तरह रंगून पहुँच जाऊँ बस। लेकिन चिट्ठी-पर-चिट्ठी और तारों के ढेर ने अन्त में मुझे सचमुच ही फिर कलम पकड़ने के लिए प्ररोचित किया। मैंने उनकी नवप्रकाशित 'यमुना' पत्रिका के लिए एक छोटी-सी कहानी भेजी। कहानी प्रकाशित होते-न-होते बंगला के पाठक-समाज में उसका समादर हुआ और मैंने भी एक ही दिन में नाम पैदा कर लिया। इसके बाद से आज तक मैं नियमित रूप से लिखता आ रहा हूँ। बंगाल का शायद मैं ही एक-मात्र ऐसा सौभाग्यशाली लेखक हूँ, जिसे किसी भी दिन बाधाओं का सामना नहीं करना पड़ा।

मेरा वास्तविक साहित्यिक जीवन सन् १९१३ से ही शुरू हुआ है। तब फणीपाल की 'यमुना' मासिक पत्रिका मरणासन्न थी। मैं हाल ही में रंगून से लौटा था। फणी बाबू ने अपनी पत्रिका के लिए कुछ लिखने के लिए मुझसे फिर अनुरोध किया। उनका विश्वास था कि मेरे लिखने से ही उनकी पत्रिका जीवित हो जायगी। मैं उनके अनुरोध का पालन करते हुए अपने नाम तथा उपनाम से बहुत-कुछ लिखने लगा। कुछ दिनों बाद ही ऐसा लगने लगा कि शायद पत्रिका जी उठे, लेकिन यह होने का नहीं। मृत्यु ने तब उसे घेर लिया था। मैं भी व्यर्थ का परिश्रम करने के लिए राजी न हुआ। इसी 'यमुना' में मेरे 'चरित्रहीन' का कुछ अंश प्रकाशित हुआ था।

बचपन की बात याद है। गाँव में मछली पकड़ता, डोंगी

खेता, नाव चलाकर दिन काटता और वैचित्र्य की लालसा में कभी-कभी संगीत-मण्डली की शागिर्दी भी करता। इसका आनन्द और आराम जब पूरा हो जाता, तो कन्धे पर अंगोछा रखकर बिना कुछ कहे-सुने घर से निकल पड़ता। विश्व-कवि के काव्य की 'निरुद्देश्य यात्रा' की तरह नहीं। इसमें उसमें कुछ अन्तर होता था। इसके समाप्त होने पर फिर एक दिन क्षत-विक्षत पैरों और निर्जीव शरीर को लेकर घर लौट आता। आदर और अभ्यर्थना के अंक के समाप्त होने पर अभिभावकगण फिर पाठ-शाला के लिए चालान कर देते थे। वहाँ एक बार संवर्द्धना के बाद फिर 'बोधोदय' तथा 'पद्य-पाठ' में मनोनिवास करता। फिर किसी दिन प्रतिज्ञा को भूल जाता। फिर दुष्ट सरस्वती कन्धों पर सवार हो जाती। किसी की शागिर्दी शुरू कर देता। फिर घर से बाहर निकल पड़ता। फिर लौटता, फिर पूर्ववत् आदर-संवर्द्धना पढ़ता। इसी प्रकार 'बोधोदय', 'पद्य-पाठ' और बाल-जीवन का एक अध्याय समाप्त हुआ।

शहर में आया। एक-मात्र 'बोधोदय' की नजीर पेश करके गुरुजनों ने वजीफे के दरजे में भर्ती कर दिया। पाठ्य-क्रम था—'सीतार-बनवास', 'चारुपाठ', 'सद्भावशतक', और काफी मोटा व्याकरण। इन्हें केवल पढ़ना ही नहीं था, मासिक-साप्ताहिक में समालोचना भी नहीं लिखनी थी; बल्कि था पण्डित के सामने प्रतिदिन परीक्षा देना। अतएव निःसंकोच कहा जा सकता है कि साहित्य से मेरा प्रथम परिचय अश्रु-जल से हुआ। इसके बाद बहुत कष्ट से एक दिन उसकी मियाद पूरी हुई। तब धारणा भी नहीं थी कि मनुष्य को दुःख देने के सिवाय साहित्य का और भी कोई उद्देश्य है। जिस परिवार में मेरा लालन-पालन हुआ, वहाँ काव्य, उपन्यास दुर्नीति के नामान्तर थे, संगीत अस्पृश्य था। वहाँ सभी कानून की परीक्षा पास करके वकील होना चाहते थे।

इन्हीं के बीच मेरा समय बीतता था। लेकिन अचानक एक दिन इसमें विपर्यय हुआ। मेरे एक सम्बन्धी शहर में रहकर कालेज में पढ़ते थे। वे घर आये। उन्हें संगीत के प्रति अनुराग था और काव्य के प्रति आसक्ति। घर की महिलाओं को इकट्ठा करके उन्होंने एक दिन रवीन्द्रनाथ का 'प्रकृति प्रतिशोध' पढ़ सुनाया। कह नहीं सकता, किसने कितना समझा; लेकिन पढ़ने वाले के साथ ही मेरी आँखें भी गीली हो गईं। लेकिन कहीं दुर्बलता प्रकाशित न हो जाय, इस लज्जा से जल्दी बाहर चला आया। पर जब उनके काव्य से दूसरी बार परिचय हुआ, तो मुझे अच्छी तरह याद है कि उसका प्रथम वास्तविक परिचय मिला। अब इस घर के वकील बनने के कठोर नियम-संयम अच्छे नहीं लगते थे।

मुझे फिर पुराने गाँव के निवास-स्थान पर लौटना पड़ा। लेकिन इस बार 'बोधोदय' नहीं, पिता के टूटे दराज से 'हरिदास की गुप्त कथा' ढूँढ निकाली और निकाली 'भवानी पाठक'। ये पुस्तकें स्कूल के पाठ्यक्रम में तो थीं ही नहीं, बल्कि बदमाश लड़कों के लिए अपाठ्य पुस्तकें थीं। इसीलिए इन्हें पढ़ने के लिए गोशाला में मुझे जगह ढूंढ निकालनी पड़ी। वहाँ मैं पढ़ता था और वे सुनते थे। अब पढ़ता नहीं, लिखता हूँ। उन्हें कौन पढ़ाते हैं, नहीं जानता। एक ही स्कूल में अधिक दिनों पढ़ने से विद्या नहीं आती, मास्टर साहब ने स्नेह से एक दिन इस ओर इशारा किया। अतएव फिर शहर में लौटना पड़ा। कह देना अच्छा है कि इसके बाद फिर स्कूल बदलने की आवश्यकता नहीं पड़ी। अब मुझे बंकिमचन्द्र की [illegible] । उपन्यास-साहित्य में इसके बाद भी कु[illegible] नहीं पाता था। पढ़ते-पढ़ते पुस्तकें मानो याद हो गईं। शायद मेरा यह एक दोष है। मैंने अन्ध-अनुकरण की चेष्टा कभी नहीं की है,

ऐसा नहीं; परन्तु रचना की दृष्टि से वे बिलकुल व्यर्थ हुई हैं। फिर भी चेष्टा की दृष्टि से उनका संचय आज भी मन में अनुभव करता हूँ।

इसके बाद 'बंग दर्शन' के नव पर्याय का युग आया। रवीन्द्र-नाथ का 'आँखकी किरकिरी' (चोखेर बालि) तब धारावाहिक रूप में प्रकाशित हो रहा था। भाषा और प्रकाश-भंगिमा की एक नई रोशनी मानो आँखों के सामने दिखाई पड़ी। उन दिनों की उस गम्भीर और सुतीक्ष्ण आनन्द की स्मृति मैं कभी नहीं भूलूँगा। किसी भी चीज को इस तरह से कहा जा सकता है, दूसरे की कल्पना की छवि में अपने मन को पाठक इस तरह देख सकता है, इसके पहले कभी स्वप्न में भी नहीं सोचा था। इतने दिनों के बाद केवल साहित्य का ही नहीं, मानो अपना भी परिचय पाया। बहुत पढ़ने से ही बहुत मिलता है, यह बात सच नहीं है। उन थोड़े-से पृष्ठों के रूप में, जिन्होंने इतनी बड़ी सम्पदा हमारे हाथों में सौंप दी, उनके लिए कृतज्ञता-ज्ञापन करने की भाषा कहाँ मिलेगी?

इसके बाद ही साहित्य से मेरा बिलगाव हुआ। भूल ही गया कि जीवन में कभी एक पंक्ति भी लिखी है। दीर्घ काल प्रवास में बीता। इसी बीच कवि को केन्द्रित करके किस प्रकार नवीन बंगला-साहित्य द्रुत गति से समृद्ध हो उठा, इसका मुझे कुछ भी पता नहीं था। कवि से घनिष्ठता बढ़ाने का सौभाग्य मुझे कभी प्राप्त नहीं हुआ, उनके निकट बैठकर साहित्य की शिक्षा प्राप्त करने का सुअवसर भी नहीं मिला। मैं बिलकुल ही विच्छिन्न था। यह है बाहरी सत्य, लेकिन आन्तरिक सत्य सम्पूर्ण विपरीत है। परदेश में मेरे साथ कवि की कुछ पुस्तकें थीं—काव्य और साहित्य की—और मन में थी उनके प्रति परम श्रद्धा और विश्वास। तब घुमा-फिराकर उन्हीं थोड़ी-सी पुस्तकों को बार-बार

पढ़ता था। उनके छन्द क्या हैं, अक्षर कितने हैं, कला किसे कहते हैं, उसकी संज्ञा क्या है, कसौटी पर कसने पर कोई त्रुटि दिखाई पड़ रही है या नहीं, इन बड़ी बातों पर मैंने कभी विचार नहीं किया। वे मेरे लिए बाहुल्य थीं। केवल सुदृढ़ प्रत्यक्ष के रूप में मन में यह बात थी कि इससे पूर्णतर सृष्टि और कुछ हो ही नहीं सकती। क्या काव्य में, क्या कथा-साहित्य में, यही मेरी पूँजी थी।'''एक दिन अप्रत्याशित रूप में अचानक जब साहित्य-सेवा का आह्वान हुआ, तब जवानी पार करके मैं प्रौढ़त्व की सीमा में पैर रख चुका था। शरीर श्रान्त और उद्यम सीमाबद्ध था। सीखने की उम्र कट गई है, परदेश में रहता हूँ, सबसे विच्छिन्न हूँ, सबसे अपरिचित हूँ। लेकिन जब कभी आह्वान सुना, डर की बात मन में आई ही नहीं। और कहीं चाहे न हो, साहित्य में गुरुवाद मैं मानता हूँ।

भागलपुर में जब हमारी साहित्य-सभा स्थापित हुई, तब श्री विभूतिभूषण भट्ट या उनके बड़े भाइयों से हमारा कुछ भी परिचय नहीं था। शायद इसका एक कारण यह है कि वे लोग थे परदेशी और बड़े आदमी।'''स्वर्गीय नफर भट्ट वहाँ के सब-जज थे। इसके बाद इस परिवार से धीरे-धीरे कैसे हमारा परिचय और घनिष्ठता बढ़ी, ये बातें हमें अच्छी तरह से याद नहीं। शायद इसलिए कि धनी होने पर भी इनमें धन की उग्रता या दाम्भिकता लेश-मात्र भी न थी, और मैं शायद इसीलिए अधिक आकृष्ट हुआ था कि इनके मकान में शतरंज खेलने का बहुत अच्छा आयोजन था। यहाँ शतरंज खेलने के अच्छे आयोजन का अर्थ समझना होगा—खिलाड़ी, चाय, पान और ताबड़-तोड़ तम्बाकू। सम्भवतः इसी समय श्री विभूतिभूषण हमारी 'साहित्य-सभा' के सदस्य हुए। मैं था सभापति, लेकिन हमारी साहित्य-सभा में गुरुगीरी करने का अवसर अथवा आयोजन कभी नहीं

हुआ। हफ़्ते में एक दिन सभा होती थी और अभिभावक गुरु-जनों की निगाह बचाकर किसी निर्जन मैदान में ही होती थी। यह जान लेना आवश्यक है कि उन दिनों वहाँ साहित्य-चर्चा एक गुरुतर अपराध में गिनी जाती थी। इस सभा में बीच-बीच में कविता-पाठ भी होता था। गिरीन सबसे अच्छा पढ़ता था, अतएव यह भार उसी पर था, मेरे ऊपर नहीं। पढ़ी जाने वाली कविताओं के गुण-दोषों पर विचार किया जाता था और उपयुक्त जँचने पर वे साहित्य-सभा की मासिक पत्रिका 'छाया' में प्रकाशित होती थीं। गिरीन एक ही साथ साहित्य-सभा का मन्त्री और 'छाया' का सम्पादक और 'अंगुलि-मात्र' से अधिकांश रचनाओं का मुद्रक भी था।···साहित्य-सभा के सदस्यों में विभूति सबसे मेधावी था। जैसा वह अधिक पढ़ा-लिखा था, उसी तरह भद्र और बन्धु-वत्सल भी था और वैसा ही समझदार समालोचक भी था।

बचपन की लिखी मेरी कई पुस्तकें नाना कारणों से खो गई हैं। अब तो सबका नाम भी मुझे याद नहीं है। केवल दो पुस्तकों के नष्ट होने का विवरण मैं जानता हूँ। एक थी 'अभियान'—बहुत मोटी कापी पर स्पष्ट अक्षरों में लिखी हुई। अनेक मित्रों के हाथों में घूमती-फिरती अन्त में जा पड़ी वह मेरे बचपन के साथी सहपाठी केदारसिंह के हाथों में। केदार ने बहुत दिनों तक बहुत तरह की बातें कहीं, लेकिन पुस्तक मुझे वापिस नहीं मिली। दूसरी पुस्तक है—शुभदा। पहले युग की लिखी यह मेरी अन्तिम पुस्तक थी—अर्थात् 'बड़ी दीदी', 'चन्द्रनाथ' तथा 'देवदास' आदि के बाद की।

३

मुन्शी प्रेमचन्द

मुन्शी प्रेमचन्द का नाम लेते ही आधुनिक हिन्दी के कथा-साहित्य की समग्र प्रवृत्तियाँ हमारे सामने मूर्तिमन्त हो जाती हैं। प्रेमचन्द ही ऐसे सबसे पहले भारतीय लेखक थे, जिन्होंने जनता-जनार्दन की सेवा के लिए अपना जीवन तक दे दिया। वे अपने सारे जीवन में अभावों और शोषण की दुर्दमनीय विभीषिकाओं से लड़े तथा अपने साहित्य में उदात्त भावनाओं का समीकरण करके समाज को एक नवीन प्रेरणा देते रहे। भारतीय किसानों, मजदूरों और निम्न मध्य-वर्ग के सजीव चित्रकार के रूप में आप जन-जन के मन में देवता के समान अधिष्ठित हैं। हिन्दी-उपन्यास तथा कहानी की धारा को आप ही भागीरथ के समान साहित्य-जगत् में लाये। 'कर्म-भूमि', 'रंगभूमि' तथा 'गोदान' आदि उनकी अमर कृतियाँ उनके सपनों को साकार बनाने के लिए पर्याप्त हैं। वे वस्तुतः उपन्यास-सम्राट् के गौरवमय पद के अधिकारी थे।

मेरा जीवन

मेरा जीवन सपाट, समतल मैदान है, जिसमें कहीं-कहीं गढ़े तो हैं, पर टीलों, पर्वतों, घने जंगलों, गहरी घाटियों और खड्डों को स्थान नहीं है। जो सज्जन पहाड़ों की सैर के शौकीन हैं, उन्हें तो यहाँ निराशा होगी। मेरा जन्म संवत् १९३७ में हुआ। पिता डाकखाने में क्लर्क थे, माता मरीज, एक बड़ी बहन थी। उस समय पिता जी शायद २०) पाते थे। ४५) तक पहुँचते-पहुँचते उनकी मृत्यु हो गई। यों वे बड़े विचारशील, जीवन-पथ पर आँखें खोलकर चलने वाले आदमी थे, लेकिन आखिरी दिनों में एक ठोकर खा ही गए और खुद तो गिरे ही थे, उसी धक्के में मुझे भी गिरा दिया। पन्द्रह साल की अवस्था में उन्होंने मेरा विवाह कर दिया और विवाह करने के साल-भर ही बाद परलोक सिधारे। उस समय मैं नवें दरजे में पढ़ता था। घर में मेरी स्त्री थी, विमाता थीं, उनके दो बालक थे और आमदनी एक पैसे की नहीं। घर में जो-कुछ लेई-पूँजी थी, वह पिताजी की छः महीने की बीमारी और क्रिया-कर्म में खर्च हो चुकी थी और मुझे अरमान था वकील बनने का, और एम० ए० पास करने का। नौकरी उस ज़माने में भी इतनी ही दुष्प्राप्य थी, जितनी अब है। दौड़-धूप करके शायद बाहर की कोई जगह पा जाता, पर यहाँ तो आगे बढ़ने की धुन थी—पाँव में लोहे की नहीं, अष्टधातु की बेड़ियाँ थीं, और मैं चढ़ना चाहता था पहाड़ पर।

पाँव में जूते न थे, देह पर कपड़े न थे। मँहगी अलग। दस सेर के जौ थे। स्कूल से साढ़े तीन बजे छुट्टी मिलती थी। काशी के क्विन्स कॉलेज में पढ़ता था। हैडमास्टर ने फ़ीस माफ़ कर दी।

इम्तहान सिर पर था। और मैं बाँस के फाटक एक लड़के को पढ़ाने जाता था। जाड़ों के दिन थे, चार बजे पहुँचता। पढ़ाकर छः बजे छुट्टी पाता। वहाँ से मेरा घर देहात में पाँच मील पर था। तेज चलने पर भी आठ बजे से पहले घर न पहुँच सकता। और प्रातःकाल आठ ही बजे फिर घर से चलना पड़ता था, नहीं तो वक्त पर स्कूल न पहुँचता। रातको भोजन करके कुप्पीके सामने पढ़ने बैठता और न जाने कब सो जाता। फिर भी हिम्मत बाँधे हुए था।

मैट्रिकयूलेशन तो किसी तरह पास हो गया, पर आया सेकेंड डिवीजन। क्विन्स कॉलिज में भरती होने की आशा न रही। फीस केवल अव्वल दर्जे वालों की ही मुआफ हो सकती थी। संयोग से उसी साल हिन्दू कॉलेज खुल गया था। मैंने इस नये कॉलेज में पढ़ने का निश्चय किया। प्रिंसिपल थे मि० रिचर्डसन। उनके मकान पर गया। वे पूरे हिन्दुस्तानी वेश में थे। कुरता और धोती पहने हुए फर्श पर बैठे कुछ लिख रहे थे। मगर मिजाज को तब्दील करना आसान न था। मेरी प्रार्थना सुनकर—आधी ही कह पाया था—बोले, "कि घर पर मैं कॉलिज की बातचीत नहीं करता, कॉलिज में आओ।" खैर, कॉलेज में गया। मुलाकात तो हुई, पर निराशाजनक! फीस मुआफ नहीं हो सकती थी। अब क्या करूँ। अगर प्रतिष्ठित सिफारिशें ला सकता, तो मेरी प्रार्थना पर कुछ विचार होता, लेकिन देहाती युवक को शहर में जानता ही कौन था!

रोज घर से चलता कि कहीं से सिफारिश लाऊँ, पर १२ मील की मंजिल मारकर शाम को घर लौट आता। किससे कहूँ! कोई अपना पुरसाहाल भी न था।

कई दिनों बाद सिफारिश मिली। एक ठाकुर इन्द्रनारायणसिंह हिन्दू कॉलिज की प्रबन्धकारिणी सभा में थे। उनसे जाकर रोया।

उन्हें मुझ पर दया आ गई। सिफ़ारिशी चिट्ठी दे दी। उस समय मेरे आनंद की सीमा न थी। खुश होता हुआ घर आया। दूसरे दिन प्रिंसिपल से मिलने का इरादा था, लेकिन घर पहुँचते ही मुझे ज्वर आ गया और दो सप्ताह से पहले न हिला। नीम का काढ़ा पीते-पीते नाक में दम हो गया। एक दिन घर पर बैठा था कि मेरे पुरोहित जी आ गए। मेरी दशा देखकर समाचार पूछा, और तुरन्त खेतों में जाकर एक जड़ खोद लाए और धोकर सात दाने काली मिर्च के साथ मिलवाकर मुझे पिला दिया। उसने जादू का असर किया। ज्वर चढ़ने में घण्टे ही भर की देरी थी। इस औषधि ने, मानो जाकर उसका गला ही दबा दिया। मैंने बार-बार पण्डित जी से उस जड़ी का नाम पूछा, पर उन्होंने न बताया। कहा—"नाम बताने से उसका असर जाता रहेगा।"

एक महीने बाद मैं फिर मि० रिचर्डसन से मिला और सिफारिशी चिट्ठी दिखाई। प्रिंसिपल ने मेरी तरफ तीव्र नेत्रों से देखकर पूछा—"इतने दिन से कहाँ थे?"

"बीमार हो गया था।"

"क्या बीमारी थी?"

मैं इस प्रश्न के लिए तैयार न था। अगर ज्वर बताता हूँ तो शायद साहब मुझे झूठा समझें। ज्वर मेरी समझ में हल्की चीज थी, जिसके लिए इतनी लम्बी गैरहाजिरी अनावश्यक थी। कोई ऐसी बीमारी बतानी चाहिए, जो अपनी कष्टसाध्यता के कारण दया भी उभारे। उस समय मुझे और किसी बीमारी का नाम याद न आया। ठाकुर इन्द्रनारायणसिंह से जब सिफ़ारिश के लिए मिला था, अपने दिल की धड़कन की बीमारी की चर्चा की थी। वह शब्द मुझे याद आ गया। मैंने कहा—"पैलपिटेशन ऑफ हार्ट, सर।"

साहब ने विस्मित होकर मेरी ओर देखा और कहा—"अब

तुम बिलकुल अच्छे हो ?"

"जी हाँ !"

"अच्छा, प्रवेश-पत्र भरकर लाओ ।"

मैंने समझा, बेड़ा पार हुआ। फार्म लिया, खाना पूरी की और पेश कर दिया। साहब उस समय कोई क्लास ले रहे थे। तीन बजे मुझे फार्म वापिस मिला । उस पर लिखा था—"इसकी योग्यता की जाँच की जाय।"

यह नई समस्या उपस्थित हुई । मेरा दिल बैठ गया । अंग्रेजी के सिवाय और किसी विषय में पास होने की मुझे आशा न थी, और बीजगणित और रेखागणित से तो मेरी रूह काँपती थी। जो कुछ याद था, वह भी भूल-भाल गया था लेकिन दूसरा उपाय ही क्या था। भाग्य का भरोसा करके क्लास में गया और अपना फार्म दिखाया। प्रोफेसर साहब बंगाली थे। अंग्रेजी पढ़ा रहे थे। वाशिंगटन इर्विङ्ग का रिपवान विंकिल था। मैं पीछे की कतार में जाकर बैठ गया और दो-ही-चार मिनट में मुझे ज्ञात हो गया कि प्रोफेसर साहब अपने विषय के ज्ञाता हैं। घण्टा समाप्त होने पर उन्होंने आज के पाठ पर मुझसे कई प्रश्न किये और मेरे फार्म पर 'सन्तोषजनक' लिख दिया।

दूसरा घण्टा बीजगणित का था। वह प्रोफेसर भी बंगाली थे। मैंने अपना फार्म दिखाया। नई संस्थाओं में प्रायः वही छात्र आते हैं, जिन्हें कहीं जगह नहीं मिलती। यहाँ भी यही हाल था। क्लासों में अयोग्य छात्र भरे हुए थे। पहले रेले में जो आया, वह भरती हो गया। भूख में साग-पात सभी रुचिकर होता है। अब पेट भर गया था। छात्र चुन-चुनकर लिये जाते थे। इन प्रोफेसर साहब ने गणित में मेरी परीक्षा ली और मैं फेल हो गया। फार्म में गणित के खाने में 'असन्तोषजनक' लिख दिया।

मैं इतना हताश हुआ कि फार्म लेकर फिर प्रिंसिपल के पास न

गया। सीधा घर चला आया। गणित मेरे लिए गौरीशंकर की चोटी थी। कभी उस पर चढ़ न सका। इण्टरमीडिएट में दो बार गणित में फ़ेल हुआ और निराश होकर इम्तहान देना छोड़ दिया। दस-बारह साल के बाद जब गणित की परीक्षा में आख़्तियारी हो गई, तब मैंने दूसरे विषय लेकर आसानी से पास कर लिया। बस, उस समय यूनीवर्सिटी के इस नियम ने कितने युवकों की आकांक्षाओं का खून किया, कौन कह सकता है। ख़ैर, मैं निराश होकर घर तो लौट आया लेकिन पढ़ने की लालसा अभी तक बनी हुई थी। घर बैठकर क्या करता? किस तरह गणित को सुधारूँ और फिर कालिजमें भरती हो जाऊँ, यही धुन थी। इसलिए शहर में रहना जरूरी था। संयोग से एक वकील साहब के लड़कों को पढ़ाने का काम मिल गया। पाँच रुपये वेतन ठहरा। मैंने दो रुपये में अपना गुजर करके तीन रुपये घर पर देने का निश्चय किया। वकील साहब के अस्तबल के ऊपर एक छोटी-सी कच्ची कोठरी थी। उसी में रहने की मैंने आज्ञा ले ली। एक टाट का टुकड़ा बिछा लिया। बाजार से एक छोटा-सा लैम्प लाया और शहर में रहने लगा। घर से कुछ बरतन भी लाया। एक वक्त खिचड़ी पका लेता और बरतन धो-माँजकर लाइब्रेरी चला जाता। गणित तो बहाना था, उपन्यास आदि पढ़ा करता। पण्डित रतननाथ दत्त का 'फ़िसाना आजाद' उन्हीं दिनों पढ़ा। 'चन्द्रकान्ता संतति' भी पढ़ी। बंकिम बाबू के उर्दू-अनुवाद, जितने पुस्तकालयों में मिले, सब पढ़ डाले। जिन वकील साहब के लड़कों को पढ़ाता था, उनके साले मेरे साथ मैट्रिक्यूलेशन में पढ़ते थे। उन्हीं की सिफ़ारिश से यह पद मिला था। उनसे दोस्ती थी, इसलिए जब जरूरत होती, पैसे उधार ले लिया करता था। वेतन मिलने पर हिसाब हो जाता था। कभी दो रुपये हाथ आते, कभी तीन। जिस दिन वेतन दो-तीन रुपये मिलते, मेरा संयम हाथ से निकल जाता।

प्यासी तृष्णा हलवाई की दूकान की ओर खींच ले जाती। दो-तीन आने पैसे खाकर ही उठता। उसी दिन घर जाता और दो-ढाई रुपये दे आता। दूसरे दिन से फिर उधार लेना शुरू कर देता; लेकिन कभी-कभी उधार माँगने में भी संकोच होता और दिन-का-दिन निराहार-व्रत रखना पड़ जाता।

इस तरह चार-पाँच महीने बीते। इस बीच एक बजाज से दो-ढाई रुपये के कपड़े लिये थे। रोज़ उधर से निकलता था। उसे मुझ पर विश्वास हो गया था। जब महीने-दो महीने निकल गए और मैं रुपये न चुका सका, तो मैंने उधर से निकलना ही छोड़ दिया। चक्कर देकर निकल जाता। तीन साल के बाद उसके रुपये अदा कर सका। उसी जमानेमें शहर का एक बेलदार मुझसे हिन्दी पढ़ने आया करता था। वकील साहब के पिछवाड़े उसका मकान था। 'जान लो भैया' उसका सखुन तकिया था। हम लोग उसे 'जान लो भैया' ही कहा करते थे। एक बार मैंने उससे भी आठ आने पैसे उधार लिये थे। वे पैसे उसने मुझसे मेरे घर—गाँव में जाकर पाँच साल बाद वसूल किये। मेरी अब भी पढ़ने की इच्छा थी; लेकिन दिन-दिन निराश होता जाता था। जी चाहता था कहीं नौकरी कर लूँ; पर नौकरी कैसे मिलती है और कहाँ मिलती है, यह न जानता था।

जाड़ों के दिन थे। पास एक कौड़ी न थी। दो दिन एक-एक पैसे का चबेना खाकर काटे थे। मेरे महाजन ने उधार देने से इन्कार कर दिया था, या संकोच-वश मैं उससे माँग न सका था। चिराग़ जल चुके थे। मैं एक बुकसेलर की दूकान पर एक किताब बेचने गया। चक्रवर्ती गणित की कुञ्जी थी। दो साल हुए ख़रीदी थी। अब तक उसे बड़े जतन से रखे हुए था; पर आज चारों ओर से निराश होकर मैंने उसे बेचने का निश्चय किया। किताब दो रुपये की थी; लेकिन एक पर सौदा ठीक हुआ। मैं रुपया लेकर

दूकान से उतरा ही था कि एक बड़ी-बड़ी मूँछों वाले सौम्य पुरुष ने, जो उस दूकान पर बैठे थे, मुझसे पूछा—"तुम यहाँ कहाँ पढ़ते हो?"

मैंने कहा—"पढ़ता तो कहीं नहीं हूँ; पर आशा करता हूँ कि कहीं नाम लिखा लूँगा।"

"मैट्रिक्युलेशन पास हो?"

"जी हाँ।"

"नौकरी करने की इच्छा तो नहीं है?"

"नौकरी कहीं मिलती ही नहीं।"

वे सज्जन एक छोटे-से स्कूल के हैडमास्टर थे। उन्हें एक सहकारी अध्यापक की जरूरत थी। अठारह रुपये वेतन था। मैंने स्वीकार कर लिया। अठारह रुपये उस समय मेरी निराशा-व्यथित कल्पना की ऊँची-से-ऊँची उड़ान से भी ऊपर थे। मैं दूसरे दिन हैडमास्टर साहब से मिलने का वायदा करके चला, तो पाँव जमीन पर न पड़ते थे। यह १८९९ की बात है। परिस्थितियों का सामना करने को तैयार था और गणित में अटक न जाता, तो अवश्य आगे जाता; पर सबसे कठिन परिस्थिति यूनीवर्सिटी की मनो-विज्ञान-शून्यता थी, जो उस समय और उसके कई साल बाद तक उस डाकू का-सा व्यवहार करती थी, जो छोटे-बड़े सभी को एक खाट पर सुलाता था।

मैंने पहले-पहल १९०७ में गल्पें लिखनी शुरू कीं। डॉक्टर रवीन्द्रनाथ की कई गल्पें मैंने अंग्रेजी में पढ़ी थीं और उनका उर्दू अनुवाद उर्दू पत्रिकाओं में छपवाया था। उपन्यास तो मैंने १९०१ ही से लिखना शुरू किया। मेरा एक उपन्यास १९०२ में निकला और दूसरा १९०४ में, लेकिन गल्प १९०७ से पहले मैंने एक भी न लिखी। मेरी पहली कहानी का नाम था—'संसार का सबसे अनमोल रत्न।' वह १९०७ में 'जमाना' में छपी। उसके

बाद मैंने चार-पाँच कहानियाँ और लिखीं। पाँच कहानियों का संग्रह, 'सोजे-वतन' के नाम से १९०७ में छपा। उस समय बंग-भंग का आन्दोलन हो रहा था। कांग्रेस में गरम दल की सृष्टि हो चुकी थी। इन पाँचों कहानियों में स्वदेश-प्रेम की महिमा गाई गई थी।

उस वक्त मैं शिक्षा-विभाग में डिप्टी इन्सपेक्टर था और हमीरपुर के जिले में तैनात था। पुस्तक को छपे छः महीने हो चुके थे। एक दिन मैं अपनी रावटी में बैठा था कि मेरे नाम जिलाधीश का परवाना पहुँचा कि मुझसे तुरन्त मिलो। जाड़ों के दिन थे। साहब दौरे पर थे। मैंने बैलगाड़ी जुतवाई और रातों-रात ३०-४० मील तय करके दूसरे दिन साहब से मिला। साहब के सामने 'सोजे-वतन' की एक प्रति रखी हुई थी। मेरा माथा ठनका। उस वक्त मैं 'नवाबराय' के नाम से लिखा करता था। मुझे इसका कुछ-कुछ पता मिल चुका था कि खुफिया पुलिस इस किताब के लेखक की खोज में है। समझ गया, उन लोगों ने मुझे खोज निकाला और उसी की जवाबदेही के लिए मुझे बुलाया गया है।

साहब ने मुझसे पूछा—"यह पुस्तक तुमने लिखी है?" मैंने स्वीकार किया।

साहब ने मुझसे एक-एक कहानी का आशय पूछा और अन्त में बिगड़कर बोले, "तुम्हारी कहानियों में सिडीशन भरा हुआ है। अपने भाग्य को बखानो कि अंग्रेजी अमलदारी में हो। मुगलों का राज्य होता तो तुम्हारे दोनों हाथ काट लिए जाते। तुम्हारी कहानियाँ ऐसी हैं जिनमें तुमने अंग्रेजी सरकारकी तौहीन की है, आदि।" फैसला यह हुआ कि मैं 'सोजे वतन' की सारी प्रतियाँ सरकार के हवाले कर दूँ और साहब की अनुमति के बिना कभी कुछ न लिखूँ। मैंने समझा, चलो सस्ते छूटे। एक हजार

प्रतियाँ छपी थीं, अभी मुश्किल से ३०० बिकी थीं, शेष ७०० प्रतियाँ मैंने 'ज़माना-कार्यालय' से मँगवाकर साहब की सेवा में अर्पित कर दीं।

मैंने समझा था, बला टल गई; किन्तु अधिकारियों को इतनी आसानी से सन्तोष न हो सका। मुझे बाद को मालूम हुआ कि साहब ने इस विषय में ज़िले के अन्य कर्मचारियों से परामर्श किया। सुपरिंटेंडेंट पुलिस, दो डिप्टी कलेक्टर और डिप्टी इन्सपेक्टर—जिनका मैं मातहत था—मेरी तक़दीर का फ़ैसला करने बैठे। एक डिप्टी कलक्टर साहब ने गल्पों से उद्धरण निकालकर सिद्ध किया कि इनमें आदि से अन्त तक सिडीशन के सिवा और कुछ नहीं है और सिडीशन भी साधारण नहीं, बल्कि संक्रामक! पुलिस के देवता ने कहा—"ऐसे ख़तरनाक आदमी को ज़रूर सख़्त सज़ा देनी चाहिए।" डिप्टी इन्सपेक्टर साहब मुझसे बहुत स्नेह करते थे। इस भय से, कहीं मुआमला तूल न पकड़ ले, उन्होंने यह प्रस्ताव किया कि वे मित्र-भाव से मेरे राजनीतिक विचारों की थाह लें और उस कमेटी में रिपोर्ट पेश करें। उनका विचार था कि मुझे समझा दें और रिपोर्ट में लिख दें कि लेखक केवल कलम का उग्र है और राजनीतिक आन्दोलन से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। कमेटी ने उनके प्रस्ताव को स्वीकार किया। हालाँकि पुलिस के देवता उस वक्त भी पैंतरे बदलते रहे।

सहसा कलक्टर साहब ने डिप्टी इन्सपेक्टर से पूछा—"आपको आशा है कि वह अपने दिल की बातें कह देगा?"

डिप्टी साहब ने कहा—"जी हाँ, उनसे मेरी घनिष्ठता है।"

"आप मित्र बनकर उसका भेद लेना चाहते हैं। यह तो मुख-बिरी है। मैं इसे कमीनापन समझता हूँ।"

डिप्टी साहब अप्रतिभ होकर हकलाते हुए बोले—"मैं तो हुज़ूर के हुक्म ··" साहब ने बात काटी—"नहीं, यह मेरा हुक्म नहीं है,

मैं ऐसा हुक्म नहीं देना चाहता। अगर पुस्तक से लेखक का सिडीशन साबित हो सके, तो खुली अदालत में मुकदमा चलाइए; नहीं तो धमकी देकर छोड़ दीजिए। 'मुँह में राम बगल में छुरी' मुझे पसन्द नहीं।"

जब यह वृत्तान्त डिप्टी इन्सपेक्टर साहब ने कई दिन पीछे खुद मुझसे कहा, तब मैंने पूछा—"क्या आप सचमुच मेरी मुखबिरी करते?"

वे हँसकर बोले—"असम्भव। कोई लाख रुपये भी देता, तो न करता। मैं तो केवल अदालती कार्रवाई रोकना चाहता था और वह रुक गई। मुकदमा अदालत में जाता, तो सजा हो जाना यकीनी था। यहाँ आपकी पैरवी करने वाला भी कोई न मिलता; मगर साहब हैं शरीफ़ आदमी।"

मैंने स्वीकार किया—"बहुत ही शरीफ़।"

मैं हमीरपुर ही में था कि मुझे पेचिश की शिकायत पैदा हो गई। गर्मी के दिनों में देहात में कोई हरी तरकारी मिलती न थी। एक बार कई दिन तक लगातार सूखी घुइयाँ खानी पड़ीं। यों मैं घुइयों को बिच्छू समझता हूँ और तब भी खाता था, लेकिन न जाने क्योंकर यह धारणा मन में हो गई कि अजवाइन से घुइयों का बादीपन जाता रहता है। खूब अजवाइन जलाकर खा लिया करता। दस-बारह दिन तक किसी तरह का कष्ट न हुआ। मैंने समझा, शायद बुन्देलखण्ड की पहाड़ी जलवायु ने मेरी दुर्बल पाचन-शक्ति को तीव्र कर दिया; लेकिन एक दिन पेट में दर्द शुरू हुआ और सारे दिन मैं मछली की भाँति तड़पता रहा। फंकियाँ खाईं, मगर दर्द कम न हुआ। दूसरे दिन से पेचिश हो गई, मल के साथ आँव आने लगा; लेकिन दर्द जाता रहा।

एक महीना बीत चुका था। मैं एक कस्बे में पहुँचा तो वहाँ के थानेदार साहब ने मुझसे थाने ही में ठहरने और भोजन करने का

आग्रह किया। कई दिन से मूँग की दाल खाते और पथ्य करते-करते ऊब उठा था। सोचा, "क्या हरज है आज यहीं ठहरो। भोजन तो स्वादिष्ट मिलेगा।" थाने ही में अड्डा जमा दिया। दरोगाजी ने जमीकंद का सालन पकवाया, पकौड़ियाँ, दही-बड़े, पुलाव। मैंने एहतियात से खाया—जमीकन्द तो मैंने केवल दो फाँकें खाईं; लेकिन खा-पीकर जब थाने के सामने दारोगाजी के फूँस के बंगले में लौटा, तो दो-ढाई घण्टे के बाद पेट में फिर दर्द होने लगा। सारी रात और अगले दिन-भर कराहता रहा। सोडे की दो बोतलें पीने के बाद कै हुई, तो जाकर चैन मिला। मुझे विश्वास हो गया, यह जमींकन्द की कारस्तानी है। घुइयों से पहले ही मेरी छुट्टी हो चुकी थी। अब जमीकन्द से वैर हो गया। तब से इन दोनों चीजों की सूरत देखकर मैं काँप जाता हूँ। दर्द तो फिर जाता रहा; पर पेचिश ने अड्डा जमा दिया। पेट में चौबीसों घण्टे तनाव बना रहता, अफारा हुआ करता। संयम के साथ चार-पाँच मील टहलने जाता, व्यायाम करता, पथ्य से भोजन करता, कोई-न-कोई औषधि भी खाया करता; किन्तु पेचिश टलने का नाम न लेती थी, और देह भी घुलती जाती थी। कई बार कानपुर आकर दवा कराई। एक बार महीने-भर प्रयाग में डॉक्टरी और आयुर्वेदिक ओषधियों का सेवन किया; पर कोई फायदा नहीं।

तब मैंने अपना तबादला कराया। चाहता था रुहेलखण्ड, पर पटका गया बस्ती के जिले में और हल्का वह मिला, जो नेपाल की तराई है। सौभाग्य से वहीं मेरा परिचय स्वर्गीय पं० मन्नन-द्विवेदी गजपुरी से हुआ, जो डुमरियागंज में तहसीलदार थे। कभी उनके साथ साहित्य-चर्चा हो जाती थी, लेकिन यहाँ आकर पेचिश और बढ़ गई। तब मैंने छः महीने की छुट्टी ली, और लखनऊ के मेडिकल-कॉलेज से निराश होकर काशी के एक हकीमसे इलाज कराने लगा। तीन-चार महीने बाद कुछ थोड़ा-सा फायदा

तो मालूम हुआ, पर बीमारी जड़ से न गई। जब फिर बस्ती पहुँचा, तो वही हालत हो गई। तब मैंने दौरे की नौकरी छोड़ दी और बस्ती-हाईस्कूल में स्कूल-मास्टर हो गया। फिर वहाँ से तब-दील होकर गोरखपुर पहुँचा। पेचिश पूर्ववत् जारी रही। यहाँ मेरा परिचय महावीरप्रसाद जी पोद्दार से हुआ, जो साहित्य के मर्मज्ञ, राष्ट्र के सच्चे सेवक और बड़े उद्योगी पुरुष हैं। मैंने बस्ती में ही 'सरस्वती' में कई गल्पें छपवाई थीं। पोद्दारजी की प्रेरणा से मैंने फिर उपन्यास लिखा और 'सेवा-सदन' की सृष्टि हुई। वहीं मैंने प्राइवेट बी० ए० भी पास किया। 'सेवा-सदन' का जो आदर हुआ, उससे उत्साहित होकर मैंने 'प्रेमाश्रम' लिख डाला और गल्पें भी बराबर लिखता रहा।

कुछ मित्रों की, विशेषकर पोद्दारजी की, सलाह से मैंने जल-चिकित्सा आरम्भ की; लेकिन तीन-चार महीने के स्नान और पथ्य का मेरे दुर्भाग्य से यह परिणाम हुआ कि मेरा पेट बढ़ गया और मुझे रास्ता चलने में भी दुर्बलता मालूम होने लगी। एक बार कई मित्रों के साथ मुझे एक जाने पर चढ़ने का अवसर पड़ा। और धड़धड़ाते हुए चले गए, पर मेरे पाँव ही न उठते थे। बड़ी मुश्किल से हाथों का सहारा लेते हुए ऊपर पहुँचा। उसी दिन मुझे अपनी कमजोरी का यथार्थ ज्ञान हुआ। समझ गया अब मैं कुछ दिन का मेहमान हूँ, जल-चिकित्सा बन्द कर दी।

एक दिन संध्या-समय उर्दू बाजार में श्री दशरथप्रसादजी द्विवेदी सम्पादक 'स्वदेश' से भेंट हुई। कभी-कभी उनसे भी साहित्य-चर्चा होती रहती थी। उन्होंने मेरी पीली सूरत देखकर खेद के साथ कहा—"बाबूजी, आप तो बिलकुल पीले पड़ गए हैं; कोई इलाज कराइए।"

मुझे अपनी बीमारी का जिक्र बुरा लगता था। मैं भूल जाना चाहता था कि मैं बीमार हूँ। जब दो-चार महीने ही का जिन्दगी

से नाता है, तो क्यों न हँसकर मरूँ। मैंने चिढ़कर कहा—"मर ही तो जाऊँगा भई या और कुछ। मैं मौत का स्वागत करने को तैयार हूँ।" द्विवेदीजी बेचारे लज्जित हो गए। मुझे पीछे से अपनी उग्रता पर बड़ा खेद हुआ। यह १६२० की बात है। असहयोग-आन्दोलन ज़ोरों पर था। जलियाँवाला बाग का हत्याकाण्ड हो चुका था। उन्हीं दिनों महात्मा गांधी ने गोरखपुर का दौरा किया। गाज़ीमियाँ के मैदान में ऊँचा प्लेटफ़ार्म तैयार किया गया। दो लाख से कम का जमाव न था। क्या शहर, क्या देहात, श्रद्धालु जनता दौड़ी चली आती थी। ऐसा समारोह मैंने अपने जीवन में कभी न देखा था। महात्माओं के दर्शनों का यह प्रताप था कि मुझ-जैसा मरा हुआ आदमी भी चेत उठा। और दो-ही-चार दिन बाद मैंने अपनी २० साल की नौकरी से इस्तीफ़ा दे दिया।

अब देहात में चलकर कुछ प्रचार करने की इच्छा हुई। पोद्दारजी का देहात में एक मकान था। हम और वे दोनों वहाँ से चले गए और चर्खे बनवाने लगे। वहाँ जाने के एक सप्ताह बाद मेरी पेचिश कम होने लगी, यहाँ तक कि एक महीने के अन्दर मल के साथ आँव का आना बन्द हो गया। फिर मैं काशी चला आया और अपने देहात में बैठकर कुछ प्रचार और कुछ साहित्य-सेवा में जीवन को सार्थक करने लगा। ग़ुलामी से मुक्त होते ही मैं ६ साल के जीर्ण रोग से मुक्त हो गया।

इन अनुभवों ने मुझे कट्टर भाग्यवादी बना दिया है। अब दृढ़ विश्वास है, कि भगवान् की जो इच्छा होती है, वही होता है और मनुष्य का उद्योग भी उसकी इच्छा के बिना सफल नहीं होता।

४

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

आचार्य द्विवेदी का स्थान आधुनिक हिन्दी-साहित्य के निर्माताओं में सबसे प्रमुख है। हिन्दी-भाषा के निर्माण और उत्थान के लिए 'सरस्वती' के सम्पादन-काल में उन्होंने जो अथक प्रयत्न किया था उसीका यह सुपरिणाम है कि आज उसके सभी अंगों मे उत्कृष्ट साहित्य का सृजन हो रहा है। भाषा को व्याकरण-सम्मत और शैली को सरलतम बनाने के लिए आपने अपने लेखों में अनेक सुझाव दिये हैं। हिन्दी-साहित्य के उत्थान की दशा में आपकी रचनाओं का प्रमुख स्थान है। वास्तव में वे हिन्दी के युग-निर्माता कहे जा सकते हैं।

जीवन-गाथा

नहीं कह सकता, शिक्षा-प्राप्ति की तरफ प्रवृत्ति होने का संस्कार मुझे किससे हुआ—पिता से या पितामह से या अपने ही किसी पूर्व जन्म के कृत कर्म से। बचपन ही से मेरा अनुराग तुलसीदास की 'रामायण' और ब्रजवासीदास के 'ब्रज विलास' पर हो गया था। फुटकर कवित्त भी मैंने सैकड़ों कंठ कर लिए थे। हुशंगाबाद में रहते समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'कवि-वचन-सुधा' और गोस्वामी राधाचरण के एक मासिक पत्र ने मेरे उस अनुराग की वृद्धि कर दी। वहीं मैंने बाबू हरिश्चन्द्र कुलश्रेष्ठ नाम के एक सज्जन से, जो वहाँ कचहरी में मुलाजिम थे, पिंगल का पाठ पढ़ा। फिर क्या था। मैं अपने को कवि ही नहीं, महा-कवि समझने लगा। मेरा यह रोग बहुत समय तक ज्यों-का-त्यों बना रहा। झाँसी आने पर जब मैंने पंडितों की कृपा से प्रकृत कवियों के काव्यों का अनुशीलन किया, तब मुझे अपनी भूल मालूम हो गई और छन्दोबद्ध प्रलापों के जाल से मैंने सदा के लिए छुट्टी ले ली। पर गद्य में कुछ-न-कुछ लिखना जारी रखा। संस्कृत और अंग्रेजी पुस्तकों के कुछ अनुवाद भी मैंने किये।

जब मैं झाँसी में था तब वहाँ के तहसीली स्कूल के एक अध्यापक ने मुझे कोर्स की एक पुस्तक दिखाई। नाम था 'तृतीय रीडर'। उसने उसमें बहुत-से दोष दिखाये। उस समय तक मेरी लिखी हुई कुछ समालोचनाएँ प्रकाशित हो चुकी थीं। इससे उस अध्यापक ने मुझसे उस रीडर की भी आलोचना लिखकर प्रका-

शित कराने का आग्रह किया। मैंने रीडर पढ़ी और अध्यापक महाशय की शिकायत को ठीक पाया। नतीजा यह हुआ कि समालोचना मैंने पुस्तकाकार में प्रकाशित की। इस रीडर का स्वत्वाधिकारी था प्रयाग का इण्डियन प्रेस। अतएव इस समालोचना की बदौलत इण्डियन प्रेस से मेरा परिचय हो गया और कुछ समय बाद उसने 'सरस्वती' पत्रिका का सम्पादन-कार्य मुझे दे डालने की इच्छा प्रकट की। मैंने उसे स्वीकार कर लिया। यह घटना रेल की नौकरी छोड़ने के एक साल पहले की है।

नौकरी छोड़ने पर मेरे मित्रों ने कई प्रकार से मेरी सहायता करने की इच्छा प्रकट की। किसी ने कहा—आओ, मैं तुम्हें अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बनाऊँगा। किसी ने लिखा—मैं तुम्हारे साथ बैठकर संस्कृत पढ़ूँगा। किसी ने कहा—मैं तुम्हारे लिए एक छापाखाना खुलवा दूँगा, इत्यादि। पर मैंने सबको अपनी कृतज्ञता की सूचना दे दी और लिख दिया कि अभी मुझे आपके सहायता-दान की विशेष आवश्यकता नहीं। मैंने सोचा—अव्यवस्थित-चित्त मनुष्य की सफलता में सदा सन्देह रहता है। क्यों न मैं अंगीकृत कार्य ही में अपनी सारी शक्ति लगा दूँ। प्रयत्न और परिश्रम की बड़ी महिमा है। अतएव 'सब तज हरि भज' की मसल को चरितार्थ करता हुआ, इंडियन प्रेस के प्रदत्त काम ही में मैं अपनी शक्ति खर्च करने लगा। हाँ, जो थोड़ा-बहुत अवकाश कभी मिलता तो मैं उसमें अनुवाद आदि का कुछ काम और भी करता। समय की कमी के कारण मैं विशेष अध्ययन न कर सका। इसी से 'सम्पत्ति-शास्त्र' नामक पुस्तक को छोड़कर और किसी अच्छे विषय पर मैं कोई नई पुस्तक न लिख सका।

उस समय तक मैंने जो-कुछ लिखा था उससे मुझे टकों की

प्राप्ति तो कुछ हुई ही न थी। हाँ, ग्रन्थकार, लेखक, समालोचक और कवि की जो पदवियाँ मैंने स्वयं अपने ऊपर लाद ली थीं, उनसे मेरे गर्व की मात्रा में बहुत-कुछ इजाफा जरूर हो गया। मेरे तत्कालीन मित्रों और सलाहकारों ने उसे पर्याप्त न समझा। उन्होंने कहा—"अजी कोई ऐसी किताब लिखो जिससे टके सीधे हों।" रुपयेका लोभ चाहे जो करावे। मैं उनके चक्रमें में आगया, यूरोप और अमरीका तक में प्रकाशित पुस्तकें मँगाकर पढ़ीं। संस्कृत भाषा में प्राप्त सामग्री से भी लाभ उठाया। बहुत परिश्रम करके कोई दो सौ सफे की एक पुस्तक लिख डाली। नाम उसका रखा—'तरुणोपदेश'। मित्रों ने देखा। कहा, "अच्छी तो है, पर इसमें सरसता नहीं। पुस्तक ऐसी होनी चाहिए जिसका नाम सुनकर और विज्ञापन-मात्र पढ़कर ही खरीददार पाठक उस पर इस तरह टूटें जिस तरह गुड़ नहीं, बहते हुए व्रण या गन्दगी पर मक्खियों के झुण्ड-के-झुण्ड टूटते हैं। काम-कला लिखो, काम-किल्लोल लिखो, कन्दर्प-दर्पण लिखो, रति-रहस्य लिखो, मनोज-मंजरी लिखो, अनंग-रंग लिखो।" मैं सोच-विचार में पड़ गया। बहुत दिनों तक चित्त चलायमान रहा। अन्त में जीत मेरे मित्रों की ही रही। उनके प्रस्तावित नाम मुझे पसन्द न आये। मैं उनसे भी बाँस भर आगे बढ़ गया। कवि तो मैं था ही, मैंने चार-चार चरण वाले लम्बे-लम्बे छन्दों में एक पद्यात्मक पुस्तक लिख डाली, ऐसी पुस्तक जिसके प्रत्येक पद्य से रस की नदी नहीं तो बरसाती नाला जरूर बह रहा था। नाम भी मैंने ऐसा चुना जैसा कि उस समय तक उस रस के अधिष्ठाता को भी न सूझा था। मैं तीस-चालीस साल पहले की बात कह रहा हूँ, आजकल की नहीं। आजकल तो नाम बाजारू हो रहा है और अपने अलौकिक आकर्षण के कारण निर्धनों को धनी और धनियों को धनाधीश बना रहा है। अपने बड़े मुँह के भीतर धँसी हुई जबान से.

आपके सामने उस नाम का उल्लेख करते मुझे बड़ी लज्जा मालूम होगी। पर पापों का प्रायश्चित्त करने के लिए आप पंच समाज-रूपी परमेश्वर के सामने शुद्ध हृदय से उसका निर्देश करना ही होगा। अच्छा तो उसका नाम था या है—सोहाग रात। उसमें क्या है, यह आप पर प्रकट करने की जरूरत नहीं, क्योंकि—'परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः।'

मेरे मित्रों ने इस पिछली पुस्तक को बहुत पसन्द किया, उसे बहुत सरस पाया अतएव उन्होंने मेरी पीठ खूब ठोंकी। मैंने भी अपना परिश्रम सफल समझा। अब लगा मैं हवाई किले बनाने। पुस्तक प्रकाशित होने पर उसे युक्तिपूर्वक बेचूँगा, मेरे घर रुपयों की वृष्टि होने लगी। शीघ्र ही मैं मोटर नहीं, तो एक विक्टोरिया खरीदकर उस पर हवा खाने निकला करूँगा। देहात छोड़कर दशाश्वमेध घाट पर कोई तिमंजिला मकान बनवाकर या मोल लेकर वहीं काशी-वास करूँगा। कई कर्मचारी रखूँगा। अन्यथा हजारों वेल्यू-पेबिल कौन रवाना करेगा।

परन्तु अभागों के सुख-स्वप्न सच्चे नहीं निकलते। मेरे हवाई महल एक पल में ढह पड़े। मेरी पत्नी कुछ पढ़ी-लिखी थी। उससे छिपाकर ये दोनों पुस्तकें मैंने लिखी थीं। दुर्घटना कुछ ऐसी हुई कि उसने ये पुस्तकें देख लीं। देखा ही नहीं; उलट-पलट कर उसने पढ़ा भी। फिर क्या था, उसके शरीर में कराला काली का आवेश हो आया। उसने मुझ पर वचन-विन्यास रूपी इतने कड़े कशाघात किये कि मैं तिलमिला उठा। उसने उन दोनों पुस्तकों की कापियों को आजन्म कारावास या काला पानी की सजा दे दी। वे उसके सन्दूक में बन्द हो गईं। उसके मरने पर ही उनका छुटकारा उस दायमुलहब्स से हुआ। छूटने पर मैंने उन्हें एकान्त-सेवन की आज्ञा दे दी है, क्योंकि सती की आज्ञा का उल्लंघन करने की शक्ति मुझमें नहीं। इस तरह मेरी पत्नी

ने तो मुझे साहित्य के उस पंक-पयोधि में डूबने से बचा लिया। आप भी मेरे उस दुष्कृत्य को क्षमा कर दें तो बड़ी कृपा हो। इसी से मैंने इस बहुत-कुछ अप्रासंगिक विषय के उल्लेख की यहाँ जरूरत समझी।

'सरस्वती' के सम्पादन का भार उठाने पर मैंने अपने लिए कुछ आदर्श निश्चित किये। मैंने संकल्प किया कि (१) वक्त की पाबन्दी करूँगा। (२) मालिकों का विश्वास-पात्र बनने की चेष्टा करूँगा। (३) अपने हानि-लाभ की परवाह न करके पाठकों के हानि लाभ का सदा खयाल रखूंगा। और (४) न्याय-पथ से कभी न विचलित हूँगा। इसका पालन कहाँ तक मुझसे हो सका संक्षेप में सुन लीजिये ---

(१) सम्पादकजी बीमार हो गए, इस कारण 'स्वर्ग समाचार' दो हफ्ते बन्द रहा। मैनेजर महाशय के मामा परलोक प्रस्थान कर गए। लाचार 'विश्व-मोहिनी' पत्रिका देर से निकल रही है। 'प्रलयकारी' पत्रिका के विधाता का फाउण्टेनपेन टूट गया। उसके मातम में १३ दिन काम बन्द रहा। इसी से पत्रिका के प्रगटन में विलम्ब हो गया। प्रेस की मशीन नाराज हो गई। क्या किया जाता। 'त्रिलोक मित्र' का यह अंक इसीसे समय पर न छप सका, इस तरह की घोषणाएँ मेरी दृष्टि में बहुत पड़ चुकी थीं। मैंने कहा—मैं इन बातों का कायल नहीं। प्रेस की मशीन टूट जाय तो उसका ज़िम्मेदार मैं नहीं। पर कापी समय पर न पहुँचे तो उसका ज़िम्मेदार मैं हूँ। मैंने अपनी इस ज़िम्मेदारी का निर्वाह जी-जान होम करके किया। चाहे पूरा-का-पूरा अंक मुझे ही क्यों न लिखना पड़ा हो, कापी समय पर ही मैंने भेजी। मैंने तो यहाँ तक किया कि कम-से-कम छः महीने आगे की सामग्री सदा अपने पास प्रस्तुत रखी। सोचा कि यदि मैं महीनों बीमार पड़ जाऊँ तो क्या हो? 'सरस्वती' का प्रकाशन तब तक बन्द रखना क्या

ग्राहकों के साथ अन्याय करना न होगा? अस्तु, मेरे कारण सोलह-सत्रह वर्ष के दीर्घ काल में एक बार भी सरस्वती का प्रकाशन नहीं रुका। जब मैंने अपना काम छोड़ा तब भी मैंने नये सम्पादक को बहुत बचे हुए लेख अर्पित किये। उस समय के उपार्जित और अपने लिखे हुए कुछ लेख अब भी मेरे संग्रह में सुरक्षित हैं।

(२) मालिकों का विश्वास-भाजन बनने की चेष्टा में मैं यहाँ तक सचेत रहा कि मेरे कारण उन्हें कभी उलझन में पड़ने की नौबत नहीं आई। 'सरस्वती' के जो उद्देश्य थे उनकी रक्षा मैंने दृढ़ता से की। एक दफा अलबत्ता मुझे इलाहाबाद के डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट के बँगले पर हाजिर होना पड़ा। पर मैं भूल से तलब किया गया था। उसी के सम्बन्ध में मजिस्ट्रेट को चेतावनी देनी थी। वह और किसी को मिली, क्योंकि विज्ञापनों की छपाई से मेरा कोई सरोकार न था।

मेरी सेवा से 'सरस्वती' का प्रचार जैसे-जैसे बढ़ता गया और मालिकों का मैं जैसे-जैसे अधिकाधिक विश्वास-भाजन होता गया वैसे-ही-वैसे मेरी सेवा का बदला भी मिलता गया और मेरी आर्थिक स्थिति प्रायः वैसी ही हो गई जैसी कि रेलवे की नौकरी छोड़ने के समय थी। इसमें मेरी कारगुजारी कम, दिवंगत बाबू चिन्तामणि घोष की उदारता ही अधिकारणीभूत थी। उन्होंने मेरे सम्पादन-स्वातन्त्र्य में कभी बाधा नहीं डाली। वे मुझे अपना कुटुम्बी-सा समझते रहे, और उनके उत्तराधिकारी अब तक भी मुझे वैसा ही समझते हैं।

(३) इस समय तो कितनी ही महारानियाँ हिन्दी का गौरव बढ़ा रही हैं, पर उस समय एक-मात्र 'सरस्वती' ही पत्रिकाओं की रानी नहीं, पाठकों की सेविका थी। तब उसमें कुछ छापना या किसीके जीवन-चरित्र आदि प्रकाशित कराना जरा बड़ी

बात समझी जाती थी। दशा ऐसी होने के कारण मुझे कभी-कभी बड़े-बड़े प्रलोभन दिये जाते थे। कोई कहता—मेरी मौसी का मरसिया छाप दो, मैं तुम्हें निहाल कर दूँगा। कोई लिखता—अमुक सभा में दी गई, अमुक सभापति की 'स्पीच' छाप दो, मैं तुम्हारे गले में बनारसी दुपट्टा डाल दूँगा। कोई आज्ञा देता—मेरे प्रभु का सचित्र जीवन-चरित्र निकाल दो तो तुम्हें एक बढ़िया घड़ी या पैरगाड़ी नजर की जायगी। इन प्रलोभनों का विचार करके मैं अपने दुर्भाग्य को कोसता और कहता कि जब मेरे आकाश-महलों को खुद मेरी ही पत्नी ने गिराकर चूर कर दिया, तब भला ये घड़ियाँ और गाड़ियाँ मैं कैसे हजम कर सकूँगा। नतीजा यह होता कि मैं बहरा और गूँगा बन जाता और 'सरस्वती' में वही मसाला जाने देता जिससे मैं पाठकों का लाभ समझता। मैं उनकी रुचि का सदैव खयाल रखता और यह देखता रहता कि मेरे किसी काम से उनको सत्पथ से विचलित होने का साधन न प्राप्त हो। संशोधन द्वारा लेखों की भाषा बहु-संख्यक पाठकों की समझ में आने लायक कर देता। यह न देखता कि यह शब्द अरबी का है या फारसी का या तुर्की का। देखता सिर्फ यह कि इस शब्द, वाक्य या लेख का आशय अधिकांश पाठक समझ लेंगे या नहीं। अल्पज्ञ होकर भी किसी पर अपनी विद्वत्ता की झूठी छाप लगाने की कोशिश मैंने कभी नहीं की।

५

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

आचार्य शुक्ल का स्थान हिन्दी की नई समीक्षा-पद्धति के संचालकों में अन्यतम है। उनकी गम्भीर विवेचन-चातुरी और सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति के ज्वलन्त प्रमाण उनके द्वारा लिखे गए आलोचना-ग्रन्थ हैं। भारतीय समीक्षा-पद्धति को सँकरे मार्ग से निकालकर आपने हिन्दी-साहित्य की अभिवृद्धि के जो-जो प्रयत्न किये, उनसे उनकी विवेचन-पटुता का प्रदर्शन हो जाता है। हिन्दी में तुलनात्मक आलोचना के सिद्धान्तों को पाश्चात्य आलोचकों के विचारों से समन्वित करने का सर्व प्रथम श्रेय आपको ही दिया जा सकता है। गम्भीर निबन्धों के लेखन में भी आप पर्याप्त कुशल थे। हिन्दी-साहित्य को अपने ऐसे आचार्य पर गर्व है।

आत्म-संस्मरण

वह भी एक समय था जब भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के सम्बन्ध में एक अपूर्व मधुर भावना लिये सन् १८८१ में आठ-नौ वर्ष की अवस्था में, मैं मिर्जापुर आया। मेरे पिताजी, जो हिन्दी-कविता के बड़े प्रेमी थे, प्रायः रात को 'रामचरित मानस', 'रामचन्द्रिका' या भारतेन्दुजी के नाटक बड़े चित्ताकर्षक ढंग से पढ़ा करते थे। बहुत दिनों तक तो 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक के नायक हरिश्चन्द्र और कवि हरिश्चन्द्र में मेरी बाल-बुद्धि कोई भेद न कर पाती थी। हरिश्चन्द्र शब्द से दोनों की एक मिली-जुली अस्पष्ट भावना एक अद्भुत माधुर्य का संचार करती थी। मिर्जापुर आने पर धीरे-धीरे यह स्पष्ट हुआ कि कवि हरिश्चन्द्र तो काशी के रहने वाले थे और कुछ वर्ष पहले वर्तमान थे। कुछ दिनों में किसी से सुना कि हरिश्चन्द्र के एक मित्र यहीं रहते हैं और वे हिन्दी के एक प्रसिद्ध कवि हैं; उनका शुभ नाम है उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'।

भारतेन्दु-मंडल के किसी जीते-जागते अवशेष के प्रति मेरी कितनी उत्कंठा थी, इसका अब तक स्मरण है। मैं नगर से बाहर रहता था, अवस्था थी १२ या १३ वर्ष की। एक दिन बालकों की एक मण्डली जोड़ी गई, जो चौधरी साहब के मकान से परिचित थे, वे अगुआ हुए। मील-डेढ़ मील का सफर तय हुआ। पत्थर के एक बड़े मकान के सामने हम लोग जा खड़े हुए। नीचे का बरामदा खाली था। ऊपर का बरामदा सघन लताओं के जाल से आवृत था। बीच-बीच में खम्भे और खुली जगह दिखाई पड़ती थी। उसी ओर देखने के लिए मुझसे कहा गया। कोई

दिखाई न पड़ा। सड़क पर कई चक्कर लगे। कुछ देर पीछे एक लड़के ने उङ्गली से ऊपर की ओर इशारा किया। लता-प्रतान के बीच एक मूर्ति खड़ी दिखाई पड़ी। दोनों कन्धों पर बाल बिखरे हुए थे। एक हाथ खम्भे पर था। देखते-ही-देखते वह मूर्ति दृष्टि से ओझल हो गई। बस यही उनकी पहली झाँकी थी।

ज्यों-ज्यों मैं सयाना होता गया त्यों-त्यों हिन्दी के पुराने साहित्य और नये साहित्य का भेद भी समझ पड़ने लगा और नये की ओर झुकाव बढ़ता गया। नवीन साहित्य का प्रथम परिचय नाटकों और उपन्यासों के रूप में था, जो मुझे घर पर ही कुछ-न-कुछ मिल आया करते थे। बात यह थी कि 'भारत जीवन' के स्वर्गीय बाबू रामकृष्ण वर्मा मेरे पिता के क्वीन्स कालिज के सह-पाठियों में थे। इससे 'भारत जीवन प्रेस' की पुस्तकें मेरे यहाँ आया करती थीं। अब मेरे पिताजी उन पुस्तकों को छिपाकर रखने लगे। उन्हें डर था कि कहीं मेरा चित्त स्कूल की पढ़ाई से हट न जाय। मैं बिगड़ न जाऊँ। उन दिनों पं० केदारनाथ पाठक ने एक अच्छा हिन्दी-पुस्तकालय मिर्ज़ापुर में खोला था। मैं वहाँ से पुस्तकें लाकर पढ़ा करता था। अतः हिन्दी के आधुनिक साहित्य का स्वरूप अधिक विस्तृत होकर मेरे मन में बैठता गया। नाटकों तथा उपन्यासों के अतिरिक्त विविध विषयों की पुस्तकें और छोटे-बड़े लेख भी साहित्य की नई उड़ान के एक प्रधान अंग दिखाई पड़े। स्वर्गीय पं० बालकृष्ण भट्ट का 'हिन्दी-प्रदीप' गिरता-पड़ता चला आता था। चौधरी साहब की 'आनन्द-कादम्बिनी' भी कभी-कभी निकल पड़ती थी। कुछ दिनों में काशी की नागरी प्रचारिणी सभा के प्रयत्नों की धूम सुनाई पड़ने लगी। एक ओर तो वह नागरी-लिपि और हिन्दी-भाषा के प्रवेश और अधिकार के लिए आन्दोलन चलाती थी। दूसरी ओर हिन्दी-साहित्य की पुष्टि और समृद्धि के लिए अनेक प्रकार के आयोजन करती थी। उपयोगी

पुस्तकें निकालने के अतिरिक्त एक पत्रिका भी निकालती थी, जिसमें नवीन-नवीन विषयों की ओर ध्यान आकर्षित किया जाता था।

जिन्हें अपने स्वरूप का संस्कार और उस पर ममता थी, जो अपनी परम्परागत भाषा और साहित्य से उस समय के शिक्षित कहलाने वाले वर्ग को दूर पड़ते देखकर मर्माहत थे, उन्हें यह सुन कर बहुत-कुछ ढाढस होता था कि आधुनिक विचार-धारा के साथ अपने साहित्य को बढ़ाने का प्रयत्न जारी है और बहुत-से नव-शिक्षित मैदान में आ गए हैं। १६-१७ वर्ष की अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते मुझे नवयुवक हिन्दी-प्रेमियों की एक खासी मण्डली मिल गई जिनमें श्री काशीप्रसाद जायसवाल, बा० भगवानदास हालना, पं० बदरीनाथ गौड़, पं० लक्ष्मीशङ्कर और उमाशंकर द्विवेदी मुख्य थे। हिन्दी के नये-पुराने कवियों और लेखकों की चर्चा इस मण्डली में हुआ करती थी।

मैं भी अब अपने को एक कवि और लेखक समझने लगा था। हम लोगों की बातचीत प्रायः लिखने-पढ़ने की हिन्दी में हुआ करती थी। जिस स्थान पर मैं रहता था वहाँ अधिकतर वकील, मुख्तार तथा कचहरी के अफसरों और अमलों की बस्ती थी। ऐसे लोगों के उर्दू कानों में हम लोगों की बोली कुछ अनोखी लगती थी। इसी से उन लोगों ने हम लोगों का नाम 'निःसन्देह लोग' रख छोड़ा था। मेरे मुहल्ले में एक मुसलमान सब-जज आ गए थे। एक दिन मेरे पिताजी खड़े-खड़े उनके साथ कुछ बातचीत कर रहे थे। बीच में मैं उधर जा निकला। पिताजी ने मेरा परिचय देते हुए कहा—"इन्हें हिन्दी का बड़ा शौक है।" चट जवाब मिला—"आपको बताने की जरूरत नहीं। मैं तो इनकी सूरत देखते ही इस बात से वाकिफ हो गया।" मेरी सूरत में ऐसी क्या बात थी यह इस समय नहीं कहा जा सकता। आज से चालीस वर्ष पहले की यह बात है।

६

श्री अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी

श्री वाजपेयी जी हिन्दी-पत्रकारिता के इतिहास में 'भीष्म पितामह' का स्थान रखते हैं। अपने जीवन का महत्त्वपूर्ण भाग आपने हिन्दी-पत्रकारिता और भाषा की समृद्धि में ही लगाया है। आपका व्यावहारिक राजनीतिक ज्ञान भी अत्यन्त उच्चकोटि का है। 'दैनिक भारत-मित्र' त ा 'स्वतंत्र' आदि हिंदी के अनेक उल्लेखनीय पत्रों का सम्पादन आपने अत्यन्त सफलता पूर्वक किया था। आपकी विद्वत्ता कर्म-कुशलता और सहज सरलता निश्चय ही उल्लेखनीय है। अपने सम्पादन-काल में आपने हिंदी-भाषा और उसकी अभिवृद्धि के लिए महान् यत्न किया था। आप अ० भा० हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के सभापति भी रह चुके हैं।

आत्म-कथा

देश और अवस्था में क्रान्ति होने के कारण घर की सभी बातों में क्रान्ति हो जाती है। हमारे पितृव्य तो परम्परागत संस्कृत विद्या के पण्डित हुए, परन्तु हमारे पिता कन्दर्पनारायण जी अल्पवयस्क थे, इसलिए अधिक न पढ़ सके। संस्कृत में कौमुदी पढ़ी थी और हिन्दी में मिडिल परीक्षा पास की थी। उनकी शिक्षा पटना में हुई थी, क्योंकि कौटुम्बिक व्यवस्था शिथिल हो गई थी और पुराने कानपुर में पठन-पाठन का कोई प्रबन्ध नहीं था। हमारे पितामह के छोटे भाई मुकुन्दलाल जी षट्शास्त्री थे और पटना के गुड़हट्टा मुहल्ले में उन्होंने पाठशाला स्थापित की थी। ये कुलपति थे, जो कुटुम्ब के भरण-पोषण और शिक्षण आदि की व्यवस्था करते थे।

यद्यपि उस समय आवश्यकताएँ कम थीं और जीवन के लिए आवश्यक पदार्थ सस्ते थे, तथापि जितनी शिक्षा हमारे पितृदेव ने प्राप्त की थी, उससे धनागम की विशेष आशा न थी इसलिए उन्होंने महाजनी सीखी और कलकत्ता चले गए। वहाँ पहले कुछ दिनों तक नौकरी की और बाद को दलाली करने लगे और अन्त तक इसी व्यवसाय में रहे। इससे अच्छी आय होती थी और सुख पूर्वक निर्वाह हो जाता था। वे अकेले ही कलकत्ता में रहते थे और प्रायः वर्ष में एक-दो बार पुराने कानपुर जाया करते थे, इसलिए हमारा और हमारे बड़े भाई का जन्म कानपुर में ही हुआ था। हमारा जन्म पौष शु० १४ सं० १९३७ (३० दिसम्बर १८८०) को और हमारे भाई मूलनारायण जी का ज्येष्ठ सं० १९३४ में हुआ था।

नवाबी अमलदारी में अरबी-फारसी पढ़े-लिखे लोगों को सरकारी नौकरियाँ मिलती थीं और अंग्रेजी राज्य के आरम्भ में भी यही नियम रहा। परन्तु ज्यों-ज्यों अंग्रेजी राज्य दृढ़ होता गया, त्यों-त्यों फारसी के बदले अंग्रेजी की पूछ बढ़ने लगी। जिन्होंने शासकों की यह प्रवृत्ति देखी और उससे लाभ उठाया, वे ही सच्चे राजभक्त हुए क्योंकि उस समय यद्यपि आजकल की भाँति ऊँचे पद भारतवासियों को नहीं दिये जाते थे और तहसील-दारी, डिप्टी कलेक्टरी, मुन्सिफी और बहुत हुआ तो सबजजी पर ही सन्तोष करना पड़ता था, तथापि इन पदों पर प्रतिष्ठित सज्जनों की आर्थिक और सामाजिक स्थिति अपने अन्य भाइयों की अपेक्षा बहुत ऊँची हो जाती थी। ऐसी अवस्था में इनका अंग्रेजी शासन का भक्त होना स्वाभाविक ही था।

ब्रिटिश भारत की सरकार पहले समझती थी कि हिन्दुस्तान की भाषा फारसी है, इसलिए बहुत समय तक उसने भी अपनी कचहरियों का सब काम फारसी में चलाया, परन्तु जब उसे मालूम हुआ कि फारसी देश-भाषा नहीं है, तब उसने फारसी की जगह उर्दू कर दी। लेकिन अदालतों की भाषा न रहने पर भी फारसी का पठन-पाठन बन्द नहीं हुआ, क्योंकि उर्दू को फारसी से पुष्टि मिलती थी। इसके सिवा नीचे के पद तथा पुलिस-इन्सपेक्टरी आदि के लिए अंग्रेजी जानना आवश्यक भी न था। इसलिए संस्कृत और हिन्दी, शिक्षा के गौण विषय हुए और देश में अंग्रेजी और उर्दू-फारसी का बोल-बाला हुआ। इसका कारण यह था कि सब लोग सरकारी नौकरियों के लिए दौड़ रहे थे। हिन्दी 'गँवारू जबान' और उर्दू 'शुस्ता जबान' समझी जाने लगी। संस्कृत का पठन-पाठन केवल धर्म की दृष्टि से होता था। इसलिए यद्यपि बचपन में 'अइउण्' आदि सूत्र पढ़ाये गए, तथापि नौकरी पर ध्यान रहने के कारण हमारे अभिभावकों ने

विशेष रूप से उर्दू-फारसी की शिक्षा दिलाना ही कर्त्तव्य समझ दरवाजे पर मौलवी साहब को बैठा दिया। कई वर्ष—कह नहीं सकते कितने—उर्दू-फारसी की शिक्षा में बीते। बीच में एक-आध बार कोई अंग्रेजी पढ़ाने वाला भी आ जाता था और वह 'ए बी सी' शुरू करा देता था। परन्तु अक्तूबर १८८६ से पहले अंग्रेजी की नियमित शिक्षा की व्यवस्था नहीं हुई।

१४ अक्तूबर सन् १८८६ को हमारे चचेरे भाई उमावर जी ने घर से थोड़ी दूर पर ब्राह्मण-स्कूल अंग्रेजी पढ़ाने के लिए स्थापित किया। प्रायः एक वर्ष इसी स्कूल में पढ़कर हम लोग बनारस चले गए और वहाँ से एक वर्ष में लौटे। कुछ दिनों तक मकान के पास ही एक स्कूल में पढ़ते रहे। बाद में पिता जी के पास कलकत्ता चले गए, जहाँ हमारे बड़े भाई पहले से ही मौजूद थे। कलकत्ता में कुछ दिनों तक घर पर मास्टर से पढ़ते रहे, अनन्तर स्कूल में भर्ती हुए। कुछ समय के बाद पुराना स्कूल बदला गया और हेयर स्कूल में पढ़ने लगे। उस समय में एक बड़े विद्वान् शिक्षक से पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। ये उच्च कोटि की अंग्रेजी ही नहीं, संस्कृत, फारसी (और शायद अरबी भी), बंगला, हिन्दी और उर्दू जानते थे। इनका नाम दीनानाथ दे था। अल्प काल में ही इन्होंने बहुत-कुछ पढ़ा दिया था।

कलकत्ता में भी हमारे पैर बहुत दिनों तक न टिक सके और दो वर्ष के अन्दर ही हम फिर कानपुर पहुँचे और वहाँ के जिला-स्कूल में भर्ती हुए। यहीं से १९०० में इण्ट्रैन्स पास किया। पण्डित विशम्भरनाथ ठुलल हेडमास्टर थे। इन्हें विद्यार्थियों की शिक्षा और चरित्र-गठन की बड़ी चिन्ता रहती थी। शिक्षक भी बड़े ऊँचे दर्जे के थे। जो विषय पढ़ाते थे, वह विद्यार्थी के हृदय पर अंकित हो जाता था। बड़े सहृदय और देश-भक्त थे। एक बार इंगलैंड के इतिहास में 'अमरीकन स्वाधीनता का युद्ध'

पढ़ा रहे थे। पढ़ाते-पढ़ाते कहने लगे, 'तुम भी चाहते होगे कि जैसे अमरीकन लोग स्वाधीन हुए, वैसे ही हम भी हो जायँ। पर यह तब तक नहीं हो सकता, जब तक कि तुम आप अपना काम न करोगे। जिस दिन तुम आप अपना काम करने लगोगे, उसी दिन अंग्रेज अपनी जेबों में हाथ डालकर जहाज पर सवार होकर यहाँ से चले जायँगे।' हेडमास्टर साहब पाठ्य पुस्तकों के सिवा व्यावहारिक और नैतिक शिक्षा भी बहुत दिया करते थे। मास्टर दीनानाथ और हेडमास्टर साहब की शिक्षा से ही देश की स्वाधीनता के सम्बन्ध के विचार उत्पन्न हुए, यह कहना ही व्यर्थ है। हेडमास्टर साहब रायबहादुर तो थे, पर बड़े निर्भीक थे। १९१७ में लो० तिलक लखनऊ से कानपुर आये, तब जिस सभा में उनका व्याख्यान होने वाला था, कोई उस क सभापति होने को जब राजी न हुआ, तब हेडमास्टर साहब ने वह पद स्वीकार किया।

१८९१ में जब पहले-पहल हम कलकत्ता गये थे, तब हिन्दी में चिट्ठी-भर लिख सकते थे, क्योंकि आरम्भिक शिक्षा उर्दू-फारसी में हुई थी। कलकत्ता में उन दिनों उर्दू की पूछ बिलकुल ही न थी और हमारे मास्टर दीनानाथ जी की 'शिक्षामणि' पुस्तक हिन्दी में लिखी हुई थी, इसलिए हमने हिन्दी को अपनाया, यद्यपि हेयर स्कूल की वार्षिक परीक्षा में उर्दू ही रखी थी। बस, इसे ही उर्दू का 'उद्यापन' समझना चाहिए। इसके कोई ६ महीने बाद फिर हम दोनों भाई कानपुर चले आए और यहाँ उर्दू-फारसी को आखिरी सलाम करके हिन्दी और संस्कृत के अनुयायी हो गए। फिर कोई ४० वर्ष तक उर्दू-फारसी पढ़ने की नौबत नहीं आई।

यद्यपि १९०० में हमने इण्ट्रेन्स पास किया था, तथापि यह वर्ष हमारे लिए अत्यन्त विपत्ति का था, क्योंकि इसी वर्ष ३५

दिनों के अन्दर ही हमारी माता जी और ज्येष्ठ भ्राता का देहान्त हो गया। जीवन की जो बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं, दुराशा में परिणत हो गईं! पिताजी वृद्ध हो रहे थे और इस वार्धक्य में पुत्र-शोक! बड़ी ही कठिन परीक्षा थी। प्रश्न था, क्या किया जाय? गृहस्थी का भार सम्भालना तो असम्भव था, क्योंकि शक्ति न थी; परन्तु कालिज में जाना भी सम्भव न था, क्योंकि घर-गृहस्थी की चिन्ता थी। इसलिए यही निश्चय किया कि अपनी क्षुद्र शक्ति से जहाँ तक हो सके, पिता जी का शोक और चिन्ता दूर करने का प्रयत्न कर्त्तव्य है। इस अभिप्राय से सेक्रेटेरियट-स्कालरशिप परीक्षा में बैठे, परन्तु प्रतियोगिता कठिन थी और सहायक कोई न था, इससे विफल-मनोरथ होना पड़ा। अनन्तर इलाहाबाद बैंक की नौकरी मिली, जिसके लिए कलकत्ता आने का खर्च और चिट्ठी भी बैंक ने दे दी। परन्तु उस समय वहाँ जाने की इच्छा न हुई, इसलिए फिर कानपुर लौट गए।

कई महीने इधर-उधर भटकने के बाद इलाहाबाद बैंक की नौकरी करने की इच्छा हुई। इसलिए १६०२ के प्रारम्भ में १०-१२ दिन इलाहाबाद में रहकर कलकत्ता चले गए। समय की बात थी। साल भर पहले मिली हुई नौकरी छोड़ दी थी और अब चाहते थे कि वही मिले, पर मिलती न थी! अन्त में अप्रैल में नौकरी मिली। नौकरी जब तक नहीं मिलती, तब तक उसकी चाह रहती है और जब मिल जाती है, तब उसका मूल्य बहुत ही कम हो जाता है; क्योंकि नित्य की वस्तु हो जाती है जिसमें नवीनता कुछ नहीं रहती और मन नूतन की खोज करता है। इसीलिए शायद नौकरी करने वाले अपनी नौकरियों से सन्तुष्ट नहीं रहते। एक कारण और है। नौकरी का प्रलोभन धनागम के लिए रहता है और जो पहले-पहल नौकरी करता है, उसे नौकरी के बन्धनों का भी पता नहीं रहता। इसलिए जब

उनसे सामना होता है, तब मनुष्य को क्लेश होता है। हमारी भी यही दशा हुई। खैर, किसी तरह तीन वर्ष काटे और चौथे वर्ष के प्रारम्भ होने के पहले ही इस्तीफा दे दिया।

इस्तीफा देने के बाद क्या करेंगे यह सोचने की आवश्यकता नहीं समझी, परन्तु इच्छा समाचार-पत्र में काम करने की थी। भावी बंग-भंग के विरुद्ध आन्दोलन आरम्भ हो चुका था। 'हिन्दी बंगवासी' की उन दिनों बड़ी धूम थी। शायद इससे अधिक प्रचार उन दिनों किसी हिन्दी-पत्र का न था। शिवबिहारी-लाल जी बाजपेयी इसके मैनेजर थे और वे हमारे भतीजे लगते थे। उनसे हमने कहा कि तुम्हारे यहाँ सम्पादकीय विभाग में काम हो तो बताना। कई महीने बाद जगह खाली हुई और नवम्बर में हमें वह मिल गई। वेतन तो बैंक से ५) कम था, परन्तु काम हमारे मन का था। कोई छः महीने तक काम किया। देखा कि सीखने को जो बातें थीं, वे सीख लीं। उनके आगे वहाँ कुछ सीखना नहीं था। इसलिए वहाँ से हटे, परन्तु सम्पादन कार्य और समाचार-पत्रों से अनुराग बना रहा। राजनीतिक आन्दोलन से उत्साह भी बढ़ता रहा। १९०६ की कांग्रेस कलकत्ता में ही हुई थी, जिसमें सभापति रूप से दादाभाई नौरोजी ने कहा था 'हम ऐसा स्वराज्य चाहते हैं जैसा यूनाइटेड किंगडम (ग्रेट-ब्रिटेन और आयरलैंड) तथा उपनिवेशों में है।' उसके पहले बाबू विपिनचन्द्र पाल और बा० अरविन्द घोष स्वराज्य शब्द का प्रयोग तो नहीं करते थे, पर कहते थे कि 'हम ऐसी पूर्ण स्वाधीनता चाहते हैं जिसका नियंत्रण ब्रिटिश सरकार के हाथमें न हो।' उनका पत्र 'वन्दे मातरम्' अपनी भाषा और विचार-परिपक्वता में अद्वितीय था। अंग्रेजी में वैसा पत्र आज तक दूसरा नहीं निकला।

१९०७ से १९१० तक का समय दो प्रकार के कार्यों में बीता।

कुछ समय तो यूरोपियनों तथा बंगालियों को हिन्दी पढ़ाने में गया और कुछ सम्पादन-कार्य में। बंगाल की नेशनल कौंसिल आव एजुकेशन या राष्ट्रीय शिक्षा परिषद् द्वारा परिचालित बंगाल नेशनल कालेज के वाइस-प्रिन्सीपल तथा पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर और स्वर्गीय सखाराम गणेश देउसकर के कहने से उसमें हिन्दी के लेक्चरार का काम किया और 'नृसिंह' नामक मासिक पत्र निकाला। हिन्दी में इसके पहले कोई राजनीतिक मासिक पत्र न था। परन्तु अर्थाभाव से यह एक वर्ष से अधिक न चला। १९११ के आरम्भ में 'भारत मित्र' के मालिक स्वर्गीय बाबू जगन्नाथदास जी ने बुलाकर उसका सम्पादन-भार सौंपा।

उस समय हिन्दी में कोई दैनिक पत्र न था। हमारे मन में दैनिक पत्र निकालने की आकांक्षा पहले से ही थी। बादशाह पाँचवें जार्ज दिल्ली-दरबार के लिए भारत में आ रहे थे। इसलिए हमने इस अवसर पर 'भारत मित्र' का दैनिक संस्करण निकालने का निश्चय ही नहीं किया बल्कि नवम्बर १९११ से प्रकाशित भी कर दिया। कोई दो महीने तक यह दैनिक संस्करण भी धूमधाम से प्रकाशित होता रहा। परन्तु दैनिक पत्र में जो परिश्रम पड़ता है, वह भुक्त-भोगी ही जानता है और वह भी उस समय जब नई दुनिया बसानी पड़ती है। हमारे सामने आदर्श तो था ही नहीं, साधनों का भी सर्वथा अभाव था। दैनिक पत्र का निकालना और उस समय जब कि सहायकों का अभाव हो, अपने सिर बला लेना है। परन्तु 'मनस्वी कार्यार्थी गणयति न दुःखं न च सुखम्।' सहायकों में अकेले 'उचित वक्ता' के ख्यातनामा सम्पादक स्वर्गीय पं० दुर्गाप्रसाद जी मिश्र के चचेरे भाई स्वर्गीय वासुदेव मिश्र थे और ये भी डेढ़ महीने बाद छुट्टी पर चले गए! इनके अभाव में एक दक्षिणी सज्जन आये, परन्तु इनसे और भी कम सुभीता हुआ, क्योंकि इन्होंने सुरती (तम्बाकू) बेचने

का काम भी कर रखा था ! घर से हमारा खाने-भर का सम्बन्ध रह गया था और सारा समय 'भारत मित्र' आफिस में ही बीतता था । फिर भी अकेला चना क्या भाड़ फोड़ सकता है ? अन्त को १७ जनवरी १६१९ से दैनिक संस्करण बन्द किया और सूचना दे दी कि नव वर्ष अर्थात् चैत्र शुक्ला १ से स्थायी रूप से दैनिक संस्करण प्रकाशित होगा । इस सूचना को प्रकाशित करके जब हम 'भारत मित्र'-आफिस से निकले, तब शरीर की यह अवस्था थी कि पैर काँपते थे । बीच-बीच में औषधोपचार से काम में बाधा नहीं पड़ने पाती थी, परन्तु शरीर पर इस असाधारण परिश्रम का बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा । लगातार दो महीने तक १८-१८ घंटे काम करने का फल जो होना चाहिए, वही हुआ अर्थात् शरीर अस्वस्थ हो गया ।

पूर्व सूचना के अनुसार 'दैनिक भारत मित्र' चैत्र शु० १ से निकलने लगा । कुछ नई व्यवस्था भी हुई । बंगला के प्रसिद्ध सम्पादक स्व० पाँचकौड़ी बनर्जी को अग्रलेख लिखने और 'हिन्दी बंगवासी' के भूतपूर्व सम्पादक स्वर्गीय पं० सदानन्द शुक्ल को वासुदेव जी के सिवा कागज भरने के लिए रखा । परन्तु फिर भी काम कम न हुआ, क्योंकि पाँचकौड़ी बाबू के लिए लेखक की आवश्यकता होती थी और जब वासुदेव जी उनका लेख लिखते थे, तब अपना काम कम करते थे । सदानन्द जी को यों तो साप्ताहिक पत्र के सम्पादन का सात-आठ वर्ष का अनुभव था, परन्तु पत्र में क्या होना चाहिए और क्या नहीं तथा सम्पादन-कार्य का रहस्य उन्हें अवगत न था । और तो क्या, समाचार कैसे आते हैं और कैसे जाते हैं इसका भी उन्हें ज्ञान न था । अंग्रेजी का भाव भी वह अच्छी तरह ग्रहण न कर पाते थे, जिससे उनका अनुवाद ठीक न होता था और उसे ठीक करने के लिए रात को जागकर भी हम ठीक न कर सकते थे, क्योंकि कम्पोजीटर हमारे

देखे प्रूफ को शुद्ध-शुद्ध कम्पोज न करके शुक्ल जी का लिखा ही शुद्ध मानकर ज्यों-का-त्यों छोड़ देते थे। शरीर तो पहले से ही दुर्बल था, अबकी बार के परिश्रम ने कलकत्ता से भागने के लिए लाचार किया। इसलिए एक महीने तक बाहर रहे। फिर कलकत्ता आये और फिर वही 'बुद्धू, लफ्फर और काने टट्टू!"

पराड़कर जी 'हितवार्त्ता' का सम्पादन करते थे, पर इसको बन्द करने की चर्चा चल रही थी। हमने उनसे कहा कि इसे बन्द करके 'भारतमित्र' में आ जाइए। उन्होंने हमारी बात मान ली। इसलिए हमने पाँचकौड़ी बाबू और शुक्ल जी दोनों को बिदा कर दिया। अब हम तीन आदमी रह गए। स्व० बाबू यशोदानन्दन अखौरी को भी बड़ा बाजार-लाइब्रेरी से छुड़ाकर हमने 'भारत-मित्र' का सहायक मैनेजर बनाया था। वे साहित्य प्रेमी थे, इस-लिए सम्पादकीय विभाग की भी सहायता किया करते थे। स्वर्गीय बाबू बालमुकुन्द जी गुप्त के ज्येष्ठ सुपुत्र बाबू नवलकिशोर गुप्त मैनेजर थे। कोई ६ महीने तक बाबू बदरीनाथ जी वर्मा (बिहार के वर्तमान शिक्षा-मन्त्री) ने भी सम्पादन-कार्य में सहायता दी थी। बाद को बिहार नेशनल कालिज के प्रोफेसर होकर वे पटना चले गए।

१९१४ में महासमर छिड़ गया। हम लोगों ने अर्थात् पराड़-कर जी, वासुदेव जी और हमने यथासाध्य बड़ा परिश्रम करके पाठकों को युद्ध के सम्बन्ध के समाचार ही नहीं दिये, बल्कि उन्हें बहुत-सी ऐसी बातें बताईं, जो अंग्रेजी जाने बिना और बिना खोज किये नहीं मालूम हो सकती थीं। १९१४ के अन्त में बाबू भगवान्दास जी हालना और बाबू मूलचन्द जी अग्रवाल भी सम्पादकीय विभाग में आये, क्योंकि एक तो कभी किसी के चले जाने पर कष्ट होने लगता था और दूसरे काम भी बढ़ गया था। १९१४ में ही 'कलकत्ता-समाचार' निकाला था। कुछ महीने बाद

मूलचन्द जी मेरठ चले गए, क्योंकि बी० ए० में फेल हो जाने के कारण उन्हें फिर परीक्षा देना आवश्यक था। कई महीने बाद हालना जी भी चले गए। पं० मातासेवक पाठक के सहकारी का का काम करने की इच्छा प्रकट करने पर हमने उन्हें बुला लिया और वे १९१६ के अन्त तक काम करते रहे। पुलिस इनके पीछे रहती थी। किसी तरह से उससे इनका पिंड छुड़ाया। परन्तु जुलाई १९१६ में बंगाल-सरकार ने क्रान्तिकारी समझकर पराड़कर जी को गिरफ्तार कर लिया। इससे हमें बहुत कष्ट हुआ, परन्तु लाइलाज मर्ज था। हमारे सहयोगियों ने हमारी आलोचना भी इसलिए की कि हमने इस गिरफ्तारी का प्रतिवाद नहीं किया। प्रतिवाद क्या करते? उन दिनों क्रान्तिकारी कहकर ऐसे लोगों की गिरफ्तारियाँ हो रही थीं, जिन्हें घुणाक्षर न्याय से भी कोई क्रान्तिकारी नहीं समझता था। हमारे पिता जी बाबूराव जी की गिरफ्तारी से बड़े चिन्तित हुए और हमसे बार-बार कहने लगे कि 'तुम भारतमित्र छोड़ दो और कोई काम न हो तो घर में ही बैठे रहो। अखबार का काम अच्छा नहीं।' हमारे बहुत समझाने पर कि बाबूराव जी 'भारत-मित्र' के कारण गिरफ्तार नहीं हुए हैं, उन्हें शान्ति मिली। नौ दिन की बीमारी के बाद १६ दिसम्बर १९१६ को उन्होंने अपनी संसार-यात्रा समाप्त की।

पराड़कर जी की गिरफ्तारी और नजरबन्दी के बाद उनकी योग्यता और अध्यवसाय का कोई दूसरा साथी न मिला। 'दैनिक भारत-मित्र' के प्रकाशन के प्रारम्भ से ही शरीर में अस्वस्थता ने अड्डा जमा लिया था। धीरे-धीरे उसका अधिकार-क्षेत्र बढ़ने लगा और १९१८ में ही मालूम हो गया कि 'भारत-मित्र' के लिए कोई नई व्यवस्था करनी पड़ेगी। १९१८ की दिल्ली-कांग्रेस में पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे से भेंट हुई और हमने उन्हें 'भारत-मित्र' में आने के लिए निमंत्रण दिया। यह भी बताया कि हम अलग

होना चाहते हैं, इसलिए आपको बुलाते हैं। १९१९ के अगस्त में हम 'भारत-मित्र' से सम्बन्ध तोड़कर चिकित्सा कराने काशी चले गए। इस सम्बन्ध-त्याग का एक कारण और भी था। १९१३ में हमने भारत-मित्र की लिमिटेड कम्पनी बनाई थी। कम्पनी बनने के पहले तो जगन्नाथदास जी कहने को मालिक थे, परन्तु व्यवहार में मालिक हमी थे और कम्पनी बन जाने से भी बहुत-कुछ हमारी ही व्यवस्था चलती थी। हमने 'भारत-मित्र' को अपने खून से सींचा था, इसलिए हम अपने को ही मालिक समझते थे, और उसके हित के काम बिना डाइरेक्टरों से पूछे भी किया करते थे। एक बार मैनेजर से हमने 'भारत-मित्र' के एक विज्ञापन के लिए कुछ रुपये खर्च करा दिए थे। मैनेजिंग डाइरेक्टर जगन्नाथ दास जी ही थे। उन्होंने मैनेजर से जवाब तलब किया। इन्होंने कहा कि वाजपेयी जी के कहने से हमने 'थैकर्स डाइरेक्टरी' में विज्ञापन दिया। उत्तर मिला कि वे तो सम्पादक हैं, उनसे व्यवस्था का क्या सम्बन्ध? हमें यह बात बुरी लगी, क्योंकि 'भारत-मित्र' का हिताहित सोचने का हमारा अधिकार भी नहीं स्वीकार किया गया! हमने सोचा कि ऐसी जगह रहकर क्या होगा और सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया।

१९२० में अपने अनेक मित्रों के कहने से हमने नई कम्पनी बनाकर 'स्वतन्त्र' निकाला। १९२१ में असहयोग-आन्दोलन जोरों से चला और 'स्वतन्त्र' में संवाददाताओं की विशेष व्यवस्था होने से स्त्रियों की सभाओं में म० गांधी के जो व्याख्यान होते थे, उनकी भी रिपोर्टें निकलती थीं। इससे 'स्वतन्त्र' की लोकप्रियता बहुत बढ़ गई और जब दिसम्बर में हम लोग जेल में थे, तब दिन भर 'स्वतन्त्र' छपता रहता था, फिर भी माँग पूरी नहीं होती थी। 'स्वतन्त्र' के सम्पादन कार्य में पहले कई वर्षों तक तक हमें बाबू पारसनाथसिंह का सहयोग प्राप्त हुआ था। सम्पादकीय

विभाग में और भी कार्यकर्त्ता थे, जिनमें बाबू ललताप्रसाद वर्मा और बा० रामचरित्रसिंह ने कार्य करते हुए बी० एल० तथा बा० अलखधारीलाल ने एम० ए० बी० एल० परीक्षाएँ पास कीं। कुछ महीने तक पं० द्वारिकाप्रसाद मिश्र ने (जो पहले मध्य-प्रदेश में मंत्री थे) काम किया था। पं० श्यामसुन्दर पांडे ने भी कई वर्षों तक सहकारी सम्पादक का काम किया था। 'स्वतन्त्र' कलकत्ता के सभी हिन्दी-पत्रों से अधिक चला हुआ पत्र था, परन्तु जैसी व्यवस्था होनी चाहिए थी, वैसी नहीं बन पड़ी। इससे आर्थिक कठिनाइ रहने लगी। १६२६-३० में गांधी जी के सत्याग्रह-आन्दोलन में 'स्वतन्त्र' पूर्ववत् कूद पड़ा और सरकारी दमन-नीति का शिकार हुआ। ३१ मार्च १६३० को बंगाल-सरकार ने उससे ५०००) की जमानत माँगी। निश्चय हुआ कि जमानत न देकर पत्र बन्द कर दिया जाय; और पत्र बन्द हो गया।

सम्पादन-कार्य सिखलाने के लिए देश में कहीं कोई व्यवस्था नहीं है, इसलिए विद्यार्थियों को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। क्या सीखना, क्या पढ़ना, किससे पूछना या सीखना इत्यादि बताने वाले का भी अभाव रहता है। दादा भाई नौरोजी, रमेशचन्द्र दत्त, विलियम बोल्ट आदि बहुत-से लेखकों ने ग्रन्थ लिखकर भारतीय विषयों की हमारी जानकारी बढ़ाइ है। लाला लाजपतराय ने अपने निर्वासन के दिनों में जो ग्रन्थ पढ़े थे, उनके नाम जानकर हमने भी उन्हें पढ़ डाला। राजनीति और अर्थशास्त्र के भी अधिकारी विद्वानों के ग्रन्थ पढ़े और उनका मनन किया। संस्कृत के भी 'दण्ड-नीति' के कई ग्रन्थ देखे। राष्ट्रीय शिक्षा और भिन्न-भिन्न देशों की शासन-पद्धतियों का भी अध्ययन किया, जिससे सार्वजनिक विषयों को समझने-समझाने की कुछ शक्ति हुई। आयर्लैण्ड की स्वा-धीनता के आन्दोलन के प्रत्येक रूप का बड़ी सावधानी से विचार

किया। और भी अन्य देशों की स्वतन्त्रता के इतिहास पढ़े। १९०७ से १९१० तक 'उचितवक्ता'-सम्पादक स्वर्गीय पं० दुर्गाप्रसाद जी मिश्र और स्व० पण्डित गोविन्दनारायण जी मिश्र की संगति से भी हमें बहुत लाभ हुआ।

१९०४ से ही हमारा विचार था कि हिन्दी का अच्छा व्याकरण लिखें और इम्पीरियल लाइब्रेरी के लाइब्रेरियन मि० मैकफ़रलेन को बताया भी था। पर जब लिखने बैठे, तब मालूम हुआ कि संस्कृत और हिन्दी के इस सामान्य ज्ञान से ही काम न चलेगा, उसके लिए प्राकृत का जानना भी आवश्यक है। इसलिए हमने वररुचि का 'प्राकृत प्रकाश' पढ़ा, फिर भी कसर रह गई। १९०८ में एक आन्दोलन चला था कि विभक्ति—प्रत्यय को प्रकृति से मिलाकर लिखना चाहिए। इसमें हमने भी एक लेख-माला मिलाकर लिखने के पक्ष में लिखी, जो पराड़कर जी की सम्पादित 'हितवार्त्ता' पत्रिका में छपी थी। इस सिलसिले में पं० गोविन्दनारायण मिश्र जी की 'विभक्ति-विचार' और 'प्राकृत-विचार' नाम की विद्वत्तापूर्ण लेखमालाएँ प्रकाशित हुईं, जिनसे मालूम हुआ कि प्राकृत के और व्याकरण भी पढ़ने चाहिएँ। हेमचन्द्र-कृत 'प्राकृताष्टाध्यायी' देखे बिना तो काम ही नहीं चल सकता। वे भी देखे-समझे। विदेशियों और स्वदेशियों के हिन्दी-व्याकरणों की पर्यालोचना करके १५ वर्ष बाद १९१९ में 'हिन्दी कौमुदी' लिखी। ज्यों-ज्यों इसके संस्करण होते गए, त्यों-त्यों सुधार होता गया।

१९२८ में कलकत्ता-यूनिवर्सिटी ने मैट्रिक की हिन्दी का परीक्षक बनाया और १९३० में एम० ए० का। एम० ए० के जिस चौथे प्रश्न-पत्र की रचना का भार हमें दिया गया था, उसके सम्बन्ध की कोई पुस्तक न थी। इसलिए बड़ी कठिनाई हुई। हमारे मित्र महामहोपाध्याय पं० सकलनारायण शर्मा ने कहा

कि आप पुस्तक तैयार कीजिए। पहले तो हमने उधर ध्यान नहीं दिया, पर जब देखा कि 'जो बोले सो घी को जाय' कहावत चरितार्थ होना अनिवार्य है, तब लिखना निश्चित किया। प्रश्न-पत्र का विषय था 'हिन्दी साहित्य पर फारसी का प्रभाव।' उर्दू-फारसी छोड़े कई युग बीत चुके थे। मित्रों से परामर्श किया और एक ढाँचा तैयार किया। फिर ग्रन्थावलोकन किया और हिन्दी में पुस्तक लिख डाली। पर छपाए कौन? और छपाए भी तो बेचे कौन? और बेचे भी तो खरीदे कौन? ये सब प्रश्न थे। शर्मा जी ने कहा था कि यूनिवर्सिटी छपायगी, परन्तु हमारे अनन्य मित्र स्व० गणिताचार्य डा० गणेशप्रसाद जी ने कहा कि अंग्रेजी कर दीजिए, तो छप सकेगी। खैर, वह भी की गई और अन्त में यूनिवर्सिटी प्रेस से छपकर १९३४ में वह प्रकाशित भी हो गई। पर अफसोस डा० गणेशप्रसाद का देहान्त हो चुका था। 'हिन्दी पर फारसी का प्रभाव' पुस्तक का हिन्दी-संस्करण बाद को हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने प्रकाशित किया। अंग्रेजी संस्करण के समय जो विशेष विषय उपलब्ध न थे, वे भी इसमें सन्निवेशित किये गए। इस पुस्तक के बाद 'अभिनव हिन्दी-व्याकरण' लिखा गया, जो कलकत्ता-विश्वविद्यालय तथा अन्य संस्थाओं में पाठ्य ग्रन्थ स्वीकृत हुआ है।

साहित्य-निर्माण का कार्य बहुत नहीं हो सका। फिर भी हाईकोर्ट के भूतपूर्व जज स्व० सर गुरदास बनर्जी-कृत 'शिक्षा' का हिन्दी भाषान्तर १९०८ में, 'हिन्दुओं की राजकल्पना' १९१३ में, और 'भारतीय शासन-पद्धति' १९१६-१७ में लिखीं और प्रकाशित कीं। 'आयर्लैण्ड की स्वाधीनता का इतिहास' और 'हिन्दू राज्यशास्त्र' नामक ग्रन्थ भी लिखे। कई फुटकर निबन्ध समालोचना रूप से कहीं नाम देकर और कहीं बेनाम के प्रकाशित हुए हैं, परन्तु उनका कोई हिसाब नहीं रखा। संस्कृत, हिन्दी और

अंग्रेजी का जितना थोड़ा ज्ञान है, उसके देखते काम कम नहीं हुआ। आजकल हम हिन्दी-पत्रकारिता का 'इतिहास' लिखने में संलग्न हैं, किन्तु हिन्दी-जगत के पत्रकारों और पत्रों के स्वामियों की ओर से सन्तोषजनक सहयोग नहीं मिल पा रहा। देखिये, यह कार्य कब तक पूरा होता है।

७

श्री वियोगी हरि

वियोगी जी ब्रज-भाषा के प्रसिद्ध कवि और हिन्दी-साहित्य एवं भाषा के समर्थ सेवकों में से हैं। अपने जीवन का अधिकांश समय आपने साहित्य-चिन्तन और भाषा-उन्नयन में ही व्यतीत किया है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन-जैसी प्राणवान संस्था को सुनियोजित करने में आपने अपने युवक-जीवन की महत्त्वपूर्ण घड़ियाँ लगाई हैं। आपका अगाध साहित्य-ज्ञान और व्यापक पाण्डित्य हिन्दी-भाषा के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित है। साहित्य-समाराधन के साथ-साथ आपने समाज-सेवा की पुनीत भावना से प्रेरित होकर हरिजनोद्धार का महत्त्वपूर्ण कार्य अपनाया हुआ है। आप अ० भा० साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्ष भी रह चुके हैं।

मेरा जीवन-प्रवाह

५५वीं सीढ़ी पर खड़े-खड़े एक बार जरा पीछे की ओर मुड़-कर देख लेना चाहता हूँ। जीवन की वे कई धुँधली और कई निखरी झलकें सुखद न सही, आकर्षक तो मुझे लगती ही हैं।

जीवन के सुनहरे प्रभात की कितनी ही मधुर स्मृतियाँ एक-एक करके सामने आ रही हैं। शैशव का वह अनजानपन कितना सरल, कितना निर्दोष था और आज का मेरा यह सारा जानपन कितना पेचीदा, कितना सदोष बन गया है! तब तो जैसे प्रतिक्षण जिज्ञासा और तृप्ति दोनों साथ-साथ मेरे नन्हे-से आँगन में खेला करती थीं। और आज का यह अनपका या अधपका 'ज्ञान' दिन-दिन अतृप्ति की ओर खींचे ले जा रहा है! मैं रोना रोने नहीं बैठा हूँ—यह तो एक तथ्य की बात सुना रहा हूँ। मेरा रुपहरा बाल-चिन्तन तब कमल के पत्ते पर जल-बिन्दु की नाईं काँपता रहता था—वह कितना सुन्दर और कितना सुखद प्रतीत होता था! आज इस प्रौढ़ता की चट्टान पर पैर जमाए हुए खड़ा हूँ, फिर भी चारों ओर जैसे संशय और विषाद को बटोर रखा है।

खूब याद है, तब मैं पाँच बरस का था। भात के साथ छिलके सहित आलू की तरकारी खाने से एक दिन उलटी हो गई थी। ऐसा डरा कि फिर तीन-चार साल तक वैसी तरकारी कभी जीभ पर नहीं रखी। इधर अब इस उतरती उम्र में पता चला कि छिलकों में तो 'विटामिन' होता है। पर तब की उस अज्ञान-जनित अरुचि ने 'पोषण' में कुछ कमी की थी क्या? चटनी और नमक-मिर्च या पाँच-सात बताशे उस डरावनी तरकारी को सामने नहीं फटकने देते थे।

ध्यान फिर जा रहा है उन अनेक त्योहारों, उत्सवों और नाना खेलों पर। कितने दिनों पहले से मैं बाट जोहा करता था कि अब कन्हैया-आठें आ रही है, अब दसहरा, अब दीवाली और अब होली। उमंग-ही-उमंग। सत्यनारायण की कथा का पंचामृत जितना स्वादिष्ट होता था उतनी ही अरोचक वह लीलावती-कलावती की कहानी लगा करती थी। उससे कहीं सुन्दर तो वे राजा-रानी की कहानियाँ होती थीं, जिन्हें मेरी नानी और माँ सुनाया करती थीं।

एक बारात को भी नहीं भूला हूँ। तब मुश्किल से मैं आठ, साढ़े आठ बरस का था। मामा के साथ एक सेठ के लड़के की बारात में गया था। उस गाँव का नाम शायद दरगवाँ था। तीन या चार दिन में बैलगाड़ियाँ वहाँ पहुँची थीं। जेठ का महीना था। दोपर की लुओं में घने पेड़ों की छाँहतले जहाँ हमारा पड़ाव पड़ता वहाँ कितना सुहावना लगता था! हर पड़ाव पर रोज़-रोज़ वही सेव-खुरमे खाने को और पीने को पानी की जगह खाँड का ठण्डा शर्बत। कच्चे आम भी हम सब बच्चे तोड़ लेते थे। बारात में जितने बालक गए थे, सब-के-सब, सिवा एक मेरे, चाँदी-सोने के गहनों से लदे हुए थे, पर कपड़े-लत्ते सबके वैसे ही मैले कुचैले थे। आधी रात को जब वहाँ आगोनी (आतिशबाजी) छूटी और कागज की रंग-बिरंगी फुलवाड़ियाँ लुटीं, तब कितनी खुशी हुई थी हम सब बच्चों को! बारात आठ-नौ दिन ठहरी थी उस छोटे-से गाँव में। लौटते हुए रास्ते में जब एक बड़ा नाला मिला, तब उसमें से हमने बहुत से लाल और सफेद रंग के गोल-गोल सुन्दर पत्थर बीनकर इकट्ठे किये थे।

खेलों में आँख-मिचौनी और दौड़-पदौड़ के सारे ही खेल मैं बचपन में खेलता था। दिमागी खेलों की तरफ कभी रुचि नहीं होती थी। आज भी मैं ऐसे खेलों की हार-जीत नहीं समझ पाता।

बाल-साथियों में सबसे समीपी, पड़ोस के, रामचन्द्र गुसाईं और मातादीन सर्राफ थे। खुट्टी (असहयोग) भी हम लोगों में जल्दी हो जाती और मेल भी जल्दी। सयाना या समझ वाला होना कितना बुरा है कि बैर की गाँठ ऐसी पक्की बैठ जाती है कि फिर खोले नहीं खुलती! काश जीवन-भर मनुष्य बालक ही बना रहता! हम तीनों ही ग़रीब घरों के थे—शील-व्यवहार में सब समान। हम तीनों धूलि-धूसरित मित्र फटे-पुराने कपड़े पहनते, सूखी-रूखी रोटी खाते और खेल-कूद में मस्त रहते थे। हमारा पुनर्मिलाप, छतरपुर छूटा उससे २५ बरस बाद, १९४४ में हुआ। हरियाली वह सारी सूख चुकी थी। वे गए-बीते सुहावने दिन फिर लौटाने पर भी नहीं लौटे। चेष्टा व्यर्थ थी।

पढ़ाई के दिनों या प्रसंगों पर नज़र नहीं दौड़ाना चाहता। जितना आवश्यक था वह लिख चुका हूँ। फिर ऐसा पढ़ा-पढ़ाया ही क्या? अध्ययन का क्षेत्र मेरा बहुत संकुचित रहा। न तो वैसे अनुकूल साधन मिले, न अधिक पढ़ने का मन ही हुआ। पर इसका मुझे पछतावा नहीं। जितना कुछ पढ़ा उसी को नहीं पचा सका। अतः अल्प-शिक्षित रहने में भी सन्तोष ही रहा!

मेरी विद्यार्थी-अवस्था समाप्त हुई कि बेकारी ने धर दबाया। अनिश्चितता और विमूढ़ता की दलदल में जा फँसा। सस्ती भावनाओं ने थपकियाँ दे-देकर मेरे डावाँडोल मन को सुलाने का यत्न किया, पर वह तो अनिद्रा रोग से ग्रस्त हो चुका था। उस समय की मनस्थिति को याद नहीं करूँगा। उन दिनों, और बाद को भी इर्द-गिर्द के लोग मुझ अस्थिर चित्त नवयुवक को कुछ-का-कुछ समझने लग गए थे। मेरा मन खुद भी मुझे बहका रहा था।

यौवन आया। फिर भी कुशल रही कि यौवन-ज्वर बहुत ऊँचा नहीं गया। हाँ, हल्का-हल्का तापमान रहने लगा। यह नित्य का हल्का तापमान तो और भी बुरा था। यह तो मानसिक

राजयक्ष्मा का लक्षण हुआ।

फिर मिथ्याकवि के रंग-बिरंगे पंख चिपकाकर कल्पना के आकाश में बहुत काल तक इधर-उधर फड़फड़ाता रहा। मित्रों ने मेरे इस स्वाँग भरने पर शाबाशी दी और शायद मैं उनके बहकावे में आ भी गया। अब मैं कवि था और शायद दार्शनिक भी, और न जाने क्या-क्या था। मैं अपनी असलियत को भूल बैठा था।

विवाह-बन्धन में नहीं पड़ा यही सन्तोष था। वह लुभावना फंदा गले में इस डर से भी नहीं डाला था कि जिन स्वजनों से इतना अधिक स्नेह-दान पाया वे कहीं छूट न जायँ। भय था कि नया संसार बस जाने पर मेरा पुराना संसार, जो मुझे प्रिय था, कहीं उजड़ न जाय। आँखों के आगे ऐसा होते मैंने देखा भी था। पर जो डर था वह तो होकर ही रहा। पुराना संसार एकदम तो नहीं उजड़ा; पर उसकी कड़ियाँ एक-एक करके टूटने-बिखरने लगीं। एकाध बार मन में आया भी कि साधारण रीति-नीति का अनुसरण न करके मैंने शायद कोई भारी भूल कर डाली। पर पुस्तक प्रकाश में आ चुकी थी। प्रूफ-संशोधन के लिए गुञ्जाइश अब नहीं रही थी। और फिर, बाद को तो अपनी कुछ भूलों पर मुझे ममता भी हो गई।

फिर कितने ही वर्षों तक अध्यात्म-रस के लोभ से शब्दारण्य में मुँह उठाए भटकता फिरा, मगर हाथ कुछ भी न आया। न तो आत्मा का रूप चित्त पर उतरा, न अनात्मा का ही। जितने भी चित्र खींचे—सब पानी पर। अन्दर-अन्दर संशयों और प्रश्नों के साथ अधकच्चे अध्ययन का कुछ-कुछ वैसा ही संघर्ष चलता रहा, जैसा शतरंज के मोहरों का। किताबी दलीलों से मात देता और मात खाता रहा। भावावेश में जो कभी-कभी थोड़ा क्षणिक आनन्द-लाभ होता था उस लोभ से इस अन्धी शोध को छोड़ते

भी नहीं बनता था। यथार्थ में अनात्मदर्शी भी हो गया होता, तो मन की उस अशान्ति का तब भी कुछ-न-कुछ उच्छेद हो जाता। पर अनात्म-दर्शन भी ऐसा सुलभ कहाँ? कैसी विचित्रता है कि न तो सामान्य-जन-सुलभ सरल श्रद्धा मेरे भाग्य में आई, न तत्त्व-साधक की धर्म-निष्ठा हाथ लगी, और न भौतिक विज्ञानी का बौद्धिक सहारा ही मिला!

मेरी धर्म-माता ने मेरे डगमगाते पैरों को भक्ति की आधार-शिला पर जमाने का बहुत प्रयत्न किया, पर निस्सत्त्व पैरों में उतना भी बल नहीं रह गया था। फिर भी उस महान् उपकार को भूलूँगा नहीं। उनके स्नेह-भरे संकेत से काँपते-काँपते तुलसी की 'विनय-पत्रिका' का एक बार फिर सहारा लिया, और उससे कुछ-कुछ ढाढ़स बँधा।

फिर कई बरस बाद गांधीजी का प्रकाश-पुञ्ज जीवन सामने आया। देखते-देखते वह एक पुण्यतीर्थ बन गया। सहस्रों यात्री उस तीर्थधाम में पहुँचे। देखा-देखी में भी लड़खड़ाता हुआ कुछ दूर तक गया, पर और आगे नहीं बढ़ सका। उस निर्मल निर्भर से, सुनने में आया कि कितने-ही साधकों ने जाकर अपने-अपने जीवन-घट भर लिए। पर जिसके घड़े में छेद-ही-छेद हों, वह वहाँ तक पहुँच भी जाता तो क्या भरकर लाता।

स्वीकार करता हूँ कि मैं किसी भी महापुरुष का सच्चा अनुयायी न बन सका, और वैसा भक्त भी नहीं। किसी के भी दीपक से अपने अन्तर का अन्धकार दूर न कर सका। सुना कि दीपक का उजेला तो उसी घर में पहुँचता है, जो उसे अपना सब-कुछ अर्पण कर देता है। 'स्वार्पण' की वह भक्ति-भावना स्वभाव से मुझमें नहीं रही। भगवान् बुद्ध ने अपने ही दीपक से अपने-आपको आलोकित करने का उपदेश किया था—'अत्तसरणा भवथ अत्तदीपा।' पर इसके लिए भी सम्यक्-साधना चाहिए।

फिर भी बुद्ध के इस अँगुलि-निर्देश से बहुत अधिक आश्वासन मिलता है।

आध्यात्मिक प्रश्न और उनके उत्तर अब पहले की तरह आकृष्ट नहीं करते। न कुछ प्रश्न करने को जी करता है, न उत्तर सुनने को। रोजमर्रा के साधारण विषयों पर बात करना बल्कि अधिक अच्छा लगता है। उस नाते अगर कुछ रुचिकर लगता भी है, तो वैराग्य की ओर कभी-कभी चित्त भटक जाता है। पर वह विश्राम-स्थली इतनी अधिक ऊँचाई पर है कि वहाँ तक हाथ नहीं पहुँच पाता। उस अधर लटकते निर्वेद-रस को चख लेने का लोभ सन्त-वाणी ने बढ़ा दिया—यद्यपि राग की लपटों से बुरी तरह झुलस गया हूँ।

फिर अपने साहित्यिक जीवन पर दृष्टि डालता हूँ तो वह भी देखने में सुन्दर नहीं लगता था। अधिकांश जो-कुछ मैंने लिखा उसमें अनुभूति तो क्या, अध्ययन भी बहुत कम रहा। ऐसा खोखला साहित्य असुन्दर तो होना ही चाहिए। ऐसे साहित्य का रचयिता लोगों को प्रायः भ्रम में डाल देता है। उसकी रचनाओं का रंगीन चश्मा चढ़ाकर वे उसका अयथार्थ रूप देखने लग जाते हैं। मेरे बारे में भी बहुत-कुछ ऐसा ही हुआ। रुखाई और कभी-कभी अविनय के साथ मैंने कई मिलने-जुलने वालों के भ्रम को दूर करने का यत्न किया; और सफलता मिलने पर सन्तोष भी हुआ। पर मेरी मूढ़ता को तो देखिए कि इतना होते हुए भी मैं 'मसि-जीवन' से पल्ला नहीं छुड़ा सका। माना कि ज्यादातर पेट के लिए ही मैंने लिखा और अब भी लिखता हूँ, पर कुछ हद तक यह लेखन एक व्यसन भी बन गया है। कुछ मित्र जब-तब यह भी सलाह देते रहते हैं कि मुझे और सब काम छोड़-छाड़कर अपने समय का अधिकांश साहित्य-रचना को ही देना चाहिए। शायद वे इसमें मेरा कुछ लाभ देखते हों। उनके दृष्टिकोण पर मैं

क्यों सन्देह करूँ ? पर उनकी नेक सलाह पर मैं अब तक चल नहीं सका और आगे भी शायद उनके सुझाये पथ पर नहीं चल सकूँगा। साहित्यकार बनने की यदि मुझमें कुछ पात्रता होती तो अब तक बन गया होता।

१९१८ से १९२५ तक प्रयाग में रहा और फिर १९३२ के अंत तक पन्ना में। ये तेरह-चौदह साल हमेशा याद रहेंगे। दोनों जगह मेरा जीवन-प्रवाह बालू को छूता और पत्थरों से टकराता हुआ प्रवाहित हुआ। प्रयाग में टण्डन जी को पाकर मानो पुण्य को भेंटा, और सम्मेलन से सम्बन्ध जोड़कर कृतार्थ हुआ। वे दिन बड़े अच्छे बीते। छतरपुर के, अपने जन्म-स्थान के वाता-वरण में जो दम घुटा जा रहा था उससे यहाँ राहत मिली। बेकारी भी जाती रही और जो जड़ता ने जकड़ रखा था वह स्थिति भी दूर हुई। न वैसी ऊँची उड़ानें भरने का मन हुआ, न अधिक आकांक्षाओं ने ही घेरा। अभाव भी वैसे यहाँ चुभे नहीं। काफी मस्त रहता था।

पन्ना में यह बात नहीं रही। वहाँ जीवन ने पलटा खाया। राज्य का वातावरण मोहक था, पर शान्त और सुखद नहीं। संकट वहाँ भी बना रहा, पर उसे मैं ढकने का प्रयत्न करने लगा। इससे दिखावे को आश्रय मिला। वहाँ जाकर जैसे सुनहरे जाल में फँस गया। शिक्षा-विभाग के कार्य को यदि हाथ में न ले लिया होता, और मान लीजिये, चार-पाँच बरस राज-भवन का अतिथि ही बना रहता, या दूसरों की तरह हाँ-में-हाँ मिलाने वाला बन जाता, तो मेरी क्या दशा हुई होती ? मैं बिलकुल निकम्मा हो गया होता और मुझे पता भी न चलता। कुशल रही कि मैं ऐसा नहीं हो पाया।

फिर भी पन्ना को मैं भूल नहीं सका। विन्ध्य प्रदेश के उन मनोरम दृश्यों को कैसे भुला दूँ। उन हरी-भरी घाटियों को, काली-

भूरी चट्टानों के साथ अठखेलियाँ करती हुई उस केन नदी और उसके प्रपातों को, पूस-माह और बैसाख-जेठ के अपने उन सालाना दौरों को, शिकार के उन हाँकों और मचानों को भला कभी भूल सकता हूँ। पन्ना-महाराज के छोटे भाई नन्हे राजा का प्रेम-व्यवहार एवं उनकी पत्नी—मेरी धर्म-भगिनी—का निच्छल स्नेह भी सदा याद रहेंगे।

अब दिल्ली। यहाँ रहते आज बीस साल होने को आये—सन् १९३२ से १९५२ तक। यहाँ पूज्य बापू से संपर्क बढ़ा, ठक्कर बापा का पुण्य स्नेह मिला; हरिजन-निवास को बसते हुए देखा; दो बालकों को पुत्र रूप में स्वीकार किया; और जीवन के बहाव को ममता-भरी दृष्टि से देखा।

लोगों ने यहाँ माना कि मैं सेवा के क्षेत्र में काम कर रहा हूँ, और साहित्यिक संन्यास ले लिया है। पर मैंने ऐसा नहीं माना। जन-सेवा की जो परिभाषा सुनी, उससे मैं बहुत-बहुत दूर हूँ। यह कोरी नम्रता की बात नहीं है। एक शिक्षण-संस्था के साधारण से व्यवस्था-कार्य को लोक-सेवा का नाम कैसे दूँ? सेवा करते-करते तो मन निर्मल और स्थिर हो जाता है, हृदय अधिकाधिक विकसित होता है और अहंकार का पर्दा हट जाने से 'स्वरूप' स्वयं ही सामने आ जाता है। अब तक तो ऐसा कुछ अनुभव हुआ नहीं। लोक-सेवक को हाथ में विवेक का दीपक लेकर साधना के कठिन पथ पर चलना पड़ता है। मैंने तो उस पथ पर पैर भी नहीं रखा। हजारों आदमी दफ्तरों और कारखानों में मुझसे कहीं अधिक परिश्रम का काम करते हैं। फिर भी उनके दिन-भर कलम घिसने और पसीना बहाने को कोई सेवा-कार्य नहीं कहता। मैं दूसरों की नहीं जानता, पर मेरे साथ जब लोक-सेवा का गलत अर्थ जोड़ा जाता है तब लज्जा व ग्लानि-सी होती है।

हाँ, दिल्ली में मेरा जन-परिचय का क्षेत्र अवश्य बढ़ गया। कितने ही साहित्यकारों, समाज-सेवकों और कई राष्ट्र-नेताओं से यहाँ जान-पहचान हुई। कुछ असमान व्यक्तियों के साथ भी मित्रता का सम्बन्ध जुड़ा। पर असल में सम्पूर्णतया कौन तो किसके समान है और कौन असमान? समान और असमान आंशिक रूप में ही तो अर्थ को वहन करते हैं। अस्तु, ऐसे असमान कहे जाने वाले मित्रों में मुख्य श्री घनश्यामदास बिड़ला हैं। यों तो वे शुरू से ही हमारे हरिजन-सेवक-संघ के अध्यक्ष रहे। पर स्वतन्त्र रूप से मेरा उनके साथ एक मित्र के जैसा नाता बन गया। इस पर यदा-कदा मेरी टीका-टिप्पणी भी खूब हुई। चूँकि घनश्यामदासजी श्रीमन्त हैं, इसीलिए उनसे दूर-दूर रहने की मुझे मेरी हित-चिन्तना की दृष्टि से सलाह दी गई—इस भय से कि कहीं उनकी हाँ-में-हाँ मिलाने वाला न बन जाऊँ। पर अनुचित रूप में 'जी हाँ-वादी' तो मैं किसी का भी नहीं बना; न किसी श्रीमन्त का, न किसी लोक-नेता का। अपने-आप पर मेरा इतना भरोसा तो रहा ही। मुझसे प्रायः पूछा गया—एक पूँजीपति के साथ तुम्हारी यह मैत्री कैसी? प्रत्येक पूँजीपति मानो अस्पृश्य है और उसके साथ हमारी अमैत्री ही होनी चाहिए! जो विचार-तुला मानव को भुलाकर केवल उसके ऊपरी आवरणों को ही तोला करती हो उसके परिणामों की यथार्थता पर कैसे विश्वास करूँ? मानव-मानव के सम्बन्ध में ये विचित्र वर्ग और वाद क्यों दखल दें? घनश्यामदास जी बस मेरे मित्र हैं, फिर वे चाहे कुछ भी हों। उनमें कुछ त्रुटियाँ भी हैं, जैसी कि आकार-प्रकार-भेद से हर किसी मनुष्य में होती हैं। मुझमें ही कितनी सारी अपूर्णताएँ भरी पड़ी हैं। फिर किसी का भी सच्चा निष्पक्ष टीकाकार या निर्णायक कौन हो सकता है? आलोचक और आलोच्य के बीच न्यूनाधिक रूप में सापेक्ष्य सम्बन्ध ही तो होता है! मैं तो घनश्यामदास जी के

कतिपय सद्‌गुणों का आदर करता हूँ। कितनी ही बातों में उनसे मेरा मत नहीं मिला, और यह आवश्यक भी नहीं। औरों की तरह उनके भी कुछ कच्चे-पक्के विचार हैं। उन्होंने जल्दी में प्रायः अनुकूल या प्रतिकूल मत बना लिया, यह भी कभी-कभी मुझे अच्छा नहीं लगा, पर वहाँ भी मैंने उनमें सचाई और सरलता ही देखी। प्रतिपक्षी के प्रति कभी-कभी कटुता तो प्रकट की, फिर भी उसका बुरा नहीं चाहा। वैज्ञानिक की जैसी सूक्ष्म बुद्धि पाकर भी हृदय अतिशय भावनाशील रहा, जिससे बहुत बार उन्हें चोट भी लगी। भिन्न मत रखते हुए भी बड़ों के प्रति श्रद्धा और छोटों के प्रति स्नेह-भाव में भरसक कमी नहीं आने दी। माता-पिता एवं गांधीजी तथा ज्येष्ठ-भ्राता के प्रति नम्र श्रद्धा-भाव देखा। मेरी मित्रता का एक मुख्य कारण यह भी हुआ कि घनश्यामदास जी ने कभी कुल-शील का परित्याग नहीं किया। और कुल-शील ही तो मनुष्य के चारित्र्य की आधार-शिला है।

मगर उनकी व्यापार-नीति? बहुधा पूछा गया कि क्या वह सर्वथा दूध की धुली रही? मैं गहराई में नहीं गया, न जाना चाहता हूँ। मैं तो इतना ही कहूँगा कि जिस मनुष्य का चरित्र स्वच्छ रहा हो उसका कुछ-न-कुछ प्रभाव उसके जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर पड़ना ही चाहिए। ऐसे मनुष्य की नीति दूध की धुली न सही, पानी की धुली तो होनी ही चाहिए। वह गन्दगी को खुशी-खुशी अपना नहीं सकता।

फिर मैं यह कब कहता हूँ कि जिस दृष्टि से मैं अपने मित्रों को देखता हूँ उसी दृष्टि से दूसरे भी उन्हें देखें। इस बात को अवश्य मानता हूँ कि जिस किसी के साथ मेरा मैत्री-सम्बन्ध जुड़ जाता है, उसके घर की हरेक चीज को मैं खिड़कियों व झरोखों से झाँक-झाँककर नहीं देखा करता। खुफिया पुलिस का

काम मुझसे नहीं हो सकता; यह स्वभाव के विपरीत है।

घनश्यामदास जी को मैंने समीप से देखा और उनके सुसंस्कृत व्यक्तित्व और चरित्र ने मुझे खींच लिया। उन्होंने भी मुझ पर विश्वास किया। मित्रता का यही तो एक-मात्र आधार है। मुझे अपने मैत्री-सम्बन्ध को किसी सभा या न्यायालय में सिद्ध करने नहीं जाना। घनश्यामदास जी के कारण उनके परिवार के सभी छोटों-बड़ों के प्रति स्नेह-भाव हो गया। कलकत्ता के श्री भागीरथमल कानोड़िया के साथ भी मेरा ऐसा ही मैत्री-सम्बन्ध है। संयोग से उनकी गणना भी पूँजीपतियों में होती है। पर मेरे तो कितने ही नाना मत रखने वाले स्नेही मित्र हैं। उनमें धनी भी हैं, दरिद्र भी हैं; सुधारवादी भी हैं, रूढ़िवादी भी हैं; और प्रगतिशील तथा प्रतिगामी भी हैं। उनके नामों की लम्बी सूची देना अनावश्यक है। ऊपर के एक दो नाम तो बाध्य होकर देने पड़े।

परिवार की चर्चा की ओर मोह-ममतावश ध्यान जा रहा है। छूटने को चाहा भी, पर उलटे उलझता गया। सोचता हूँ कि यदि कहीं मुझे अपने प्रति श्रद्धा-भक्ति का प्रतिदान मिला होता, तो शायद इस सुनहरे जाल में और अधिक उलझ गया होता। अच्छा ही हुआ कि उत्तर में मैंने प्रायः कुछ उपेक्षा ही पाई। फलतः श्रद्धा-भाजन बनने की आकांक्षा अपने-आप दुर्बल पड़ गई। फिर भी स्नेह-भाव भीतर-भीतर उमड़ता ही रहा, जो निश्चय ही मेरी जीवन-यात्रा में एक शुभ और स्वच्छ चिह्न है।

कभी-कभी अपने आस-पास वैर-भाव को पनपते देखा और उससे मैं व्यथित हो गया। प्रेम के प्रयोग-पर-प्रयोग सुझाये और किये, पर प्रयत्न अधिक सफल नहीं हुए। तो भी विश्वास दिन-दिन बढ़ता ही गया कि यदि प्रेम में मोह की मिलावट न हो, तो अन्त में वह वैर पर अवश्य विजय पाता है। प्रेम के अद्भुत

चमत्कार को देखने के लिए मैं सदैव व्याकुल रहा। अपने परिवार में हो या कहीं भी, जब-जब जहाँ वैर-विरोध के विषैले पौधे को पनपते देखा, तब-तब उसकी जड़ें काटने को व्याकुल हो उठा—यह देखते हुए भी कि उसके मूलोच्छेद करने की शक्ति मेरे निर्बल हाथों में नहीं है। आश्चर्य होता है कि इस विष-बेल को अहंकार का पानी दे-देकर पनपने ही क्यों दिया जाता है। अपने आस-पास उसे देखकर या उसकी तीव्र गंध पाकर ही मेरा तो दम घुटने लगता है, जैसे आग के बीचों-बीच सड़ायँद के साथ-साथ जल-भुन रहा हूँ। मैं नहीं जानता कि अन्तर में छिपी अहिंसा की भावना से ऐसा होता है या किससे।

और हरिजन-निवास पर अधिक क्या लिखूँ। वह तो प्रतिक्षण आँखों के आगे रहा है। पूज्य बापू का वह साकार आशीर्वाद है; श्रद्धेय बापा के तप का मधुर फल है। यह बात दूसरी है कि मैं उस पुण्यस्थल से कोई लाभ नहीं उठा पाया। गंगा के तट पर बैठा रहा और फिर भी प्यासा-का-प्यासा!

यह है अब तक का, यहाँ तक का मेरा अपना जीवन-प्रवाह। मैं स्वयं भी या कोई दूसरा इस प्रवाह के बारे में कुछ भी राय बना ले, वह तो अपने रस में ऐसा ही बहता आया है, और कौन जाने, कब तक इसी तरह बहता रहेगा।

सूने-बिहूने किन्तु सुहावने घाट पर खड़ा हूँ और देख रहा हूँ प्रवाह पर पल-पल पड़ने वाली अगणित अनित्य संस्कारों की झिलमिल छाया। बस आज तो इतना ही—बन पड़ा तो फिर कभी आगे और।

८

प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति

प्रो० इन्द्र हिन्दी-पत्रकारिता-गगन के प्रकाशमान नक्षत्र हैं। आपने विद्यार्थी-जीवन में पत्रकार बनने की जिस अमिट भावना को आपने अपने मन में सँजोया था, उसको कार्य रूप में साकार करके उन्होंने अपनी ध्येय-निष्ठा और कर्मठता का अपूर्व परिचय दिया है। हिन्दी-पत्रकारिता और विशेषतः उत्तर भारत के जन-जागरण में आपका प्रमुख योग रहा है। आपकी लेखन-शैली सरल, सुष्ठु और प्रसाद-गुणमयी होती हुई भी विरोधियों के मनसूबों को चकनाचूर करने में महती क्षमता रखती है। यही कार्य उनके द्वारा सञ्चालित 'विजय' और 'वीर अर्जुन' ने किया था। हिन्दी को अपने ऐसे समर्थ, प्रतिभावान एवं निर्भीक पत्रकार पर गर्व है।

पत्रकार जीवन के ३२ वर्ष

यों तो मुझे बचपन से ही पत्रकारिता का शौक था, परन्तु विधिपूर्वक पत्रकार मैं तब बना, जब कि १६१८के अन्तमें रौलट-एक्ट-विरोधी आन्दोलन खड़ा होने पर मैंने 'विजय' पत्र निकालना आरम्भ किया। मैं जब गत वर्षों का सिंहावलोकन करता हूँ, तब मुझे वे परिवर्तन आश्चर्यकारी प्रतीत होते हैं, जिनमें से होकर पत्रकार-जगत् गुजरा है। भारत के उस समय के पत्रकारों में और वर्तमान पत्रकारों में वही भेद है, जो देश की रक्षार्थ बनी हुई स्वयं-सेवक-सेना के सिपाहियों और उन सिपाहियों में होता है जो स्थिर सेना के वेतन-भोगी सिपाही हों।

हमारे देश में प्रभावशाली समाचार-पत्रों का जन्म देश-भक्ति की भावना को लेकर हुआ। जो समाचार-पत्र या गजट केवल सरकारी समाचारों या कथा-कहानियों के प्रकाशित करने के लिए ही निकाले जाते थे, उनका देश के पत्र-सम्बन्धी इतिहास में कोई विशिष्ट स्थान नहीं है। उस समय के जिन समाचार-पत्रों ने प्रजा और सरकार की दृष्टि में प्रतिष्ठा प्राप्त की, वे सब देश-भक्ति के जनून का परिणाम थे। 'केसरी' तथा 'अमृत बाजार पत्रिका'-जैसे सामयिक पत्रों का जन्म किसी व्यापारिक प्रेरणा से नहीं हुआ था, उनका प्रेरक कारण उग्र देश-प्रेम था।

हिन्दी भाषा के समाचार-पत्रों का जन्म भी देश-सेवा की भावना से हुआ। मैं अपनी बात कहता हूँ कि जब मैं छात्रावस्था में 'केसरी' और 'युगांतर'-जैसे पत्रों को पढ़ता और उनके इतिवृत्त सुनता था, तब मन में यह बलबला उठता था कि एक दिन मैं भी पत्रकार बनूँगा और ऐसे लेख लिखूँगा कि लोग वाह-वाह

करें और सरकार दमन करने के लिए मजबूर हो। शिक्षा समाप्त करते-करते मेरा यह बलबला एक संकल्प के रूप में परिवर्तित हो गया, फलतः मैं १९१४ ई० में साप्ताहिक 'सद्धर्म प्रचारक' का सम्पादक और संचालक बनकर दिल्ली आ गया। वह मेरे पत्र-कारिता के जीवन की प्रस्तावना थी।

उसके पश्चात् मेरे कार्यक्रम में छोटे-बड़े कई परिवर्तन आये, परन्तु ऐसा पत्रकार बनने की भावना कि जिसका दमन करना विदेशी सरकार आवश्यक समझे, निर्बल न हुई। अन्त में १९१८ के अन्त में रौलट-एक्ट के विरुद्ध सत्याग्रह का झण्डा खड़ा करके महात्मा गांधी ने मुझे वह अवसर दिया और मैंने अपने मित्र श्री टी० पी० सिन्हा के सहयोग से 'विजय' नाम का पत्र निकाला।

जब 'विजय' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ, तब भारत के नवयुवक पत्रकारिता का क्या आदर्श समझते थे, इसका अनुमान मेरी पहले एक वर्ष की दिनचर्या से लगाया जा सकता है। 'विजय' पत्र केवल ५ हजार रुपयों की पूँजी से चलाया गया था। इस पूँजी में से एक हैण्ड प्रेस और टाइप खरीदा गया था, इसी में चटाई और डैस्क से परिष्कृत कार्यालय सजाया गया था और इसी में कर्मचारियों के निर्वाह की आशा बाँधी गई थी। 'विजय' का आरम्भ करने से पूर्व मैं 'एसोशियेटेड प्रेस' के वयोवृद्ध डाइरेक्टर मि० राय से मिला था। उन्होंने जब सुना कि मैं दिल्ली से हिन्दी में एक दैनिक पत्र निकाल रहा हूँ, तो मेरी पीठ पर थपकी देकर कहा—"मेरे नौजवान भाई, मैं तुम्हें दिल्ली से दैनिक पत्र निकालने की सलाह नहीं देता, क्योंकि यह भूमि समाचार-पत्रों के लिए ऊसर है।" मैंने नेक सलाह के लिए राय महोदय को धन्यवाद दिया, परन्तु पत्र निकालने के निश्चय में परिवर्तन न किया। फलतः एक हैंड प्रेस और कुछ टाइप के आधार पर दिल्ली की ऊसर भूमि में दैनिक पत्र

का बीज बो दिया गया। उन दिनों मेरी दिनचर्या यह थी कि प्रातःकाल ५ बजे उठकर सबसे पहले उस दिन के लिए अग्रलेख और सम्पादकीय टिप्पणियाँ लिख डालना। फिर कार्यालय का समय आने पर समाचार लिखना, प्रबन्ध की देख-भाल करना, और डाक को निपटाना। 'विजय' सायंकाल को निकलता था। निकलने के समय उसके वितरण की व्यवस्था करने के पश्चात् साँझ के समय होने वाली सभाओं में सम्मिलित होना तथा अन्य सार्वजनिक कार्य करना; उन दिनों नौजवान पत्रकारों के सार्वजनिक कार्य और पत्र-सम्पादन में, तथा पत्र के सम्पादन तथा प्रबन्ध कार्य में कोई भेद करने वाली रेखा खिंची हुई नहीं थी। प्रायः वही व्यक्ति शहर के सार्वजनिक कार्यकर्ता होने के साथ-साथ पत्र के सम्पादक और प्रबन्धक भी होते थे और इन सब कामों के बोझ को वे हँसते-हँसते और शौक से कन्धों पर उठाते थे। उस समय पत्रकारिता का कार्य एक धन्धा या पेशा नहीं समझा जाता था, उसे देश-सेवा का एक विभाग माना जाता था और जब पत्र-संचालन के बहाने से देश-सेवा करते हुए कभी सरकार की ओर से जेल या जुर्माने का पुरस्कार मिलता था, तब वे उसे भगवान् की ओर से दिया गया देश-सेवा का कल्याणकारी पुरस्कार ही समझते थे।

उन दिनों देश के नवयुवक पत्रकारों की यह दशा थी कि न किसी को उन्हें मिलने वाले वेतन की मात्रा का पता था और न आगे होने वाली पद-वृद्धि का। उनकी दृष्टि के सामने तो लोकमान्य तिलक, श्री अरविन्द घोष और श्री गणेशशंकर विद्यार्थी की मूर्तियाँ विद्यमान रहती थीं, जिनसे वे उत्साहित व अनुप्राणित होते थे। यही कारण था कि उस समय समाचार-पत्रों के कार्यालयों में यह कोटा तो रखा जाता था कि किस पत्र से कितनी बार जमानत माँगी गई और उसके सम्पादक को कितनी बार

जेल जाना पड़ा, परन्तु यह विवरण नहीं रखना पड़ता था कि नौकरी के ग्रेड क्या हैं, और भत्ते का स्केल क्या होगा ? सम्भवतः यह मनोवृत्ति दुनियादारी की दृष्टि से घटिया थी, परन्तु देश को पराधीनता से मुक्त कराने में यह बहुत सहायक हुई।

मैंने ऐसे वातावरण में पत्रकारिता का कार्य आरम्भ किया था। कुछ समय पीछे ऐसे व्यक्ति भी मैदान में आये, जो समाज-सेवी भी थे, और व्यापारी भी। उन्होंने जहाँ एक ओर अपने समाचार-पत्र को देश-सेवा का साधन बनाए रखा, वहाँ साथ ही धनी और शक्ति-सम्पन्न व्यक्तियों को प्रसन्न करके या डरा-धमका-कर पत्रों को आर्थिक लाभ का साधन भी बना लिया। रियासतों के शासकों और बड़े कारखानेदारों को प्रायः ऐसे पत्रों की आवश्यकता रहती थी, जो उनकी प्रशंसा करें, और उन पर होने वाले आक्षेपों के उत्तर दें। जो पत्रकार उन शक्तिशाली व्यक्तियों के औजार बनने को उद्यत हो गए, उन्हें धन की प्राप्ति होने लगी, और संसार की दृष्टि में वे 'कामयाब पत्रकार' समझे जाने लगे। वह पत्रकारिता के इतिहास में दूसरा युग था। उसमें गङ्गोत्तरी का विशुद्ध जल गँदले नदी-नालों के मिलने से गन्दा होने लगा। कई पत्रकारों ने उस युग में खूब हाथ रँगे, परन्तु सामान्य रूप में भारतीय समाचार-पत्रों का सदाचार कायम रहा। वे देश-भक्ति और स्वाधीनता-प्रेम से अनुप्राणित होते रहे।

कुछ पत्रकारों द्वारा रियासतों के शासकों और धनी व्यक्तियों का काम करके या उन्हें डरा-धमकाकर लाभ उठाने का परिणाम यह हुआ धनी लोगों की दृष्टि में समाचार-पत्रों और पत्रकारों का आदर कम होता गया। वे लोग समझने लग गए कि जिन्हें दुनिया बहादुर शेर समझती है, उनमें रँगे सियार भी हैं। इस सम्मति-परिवर्तन का परिणाम समाचार-पत्रों के लिए बहुत बुरा हुआ। धन-सम्पन्न लोगों के मन में यह बात आ गई कि यदि

समाचार-पत्रों की सहायता से काम बनाए जा सकते हैं तो अपने समाचार-पत्र ही क्यों न निकाले जायँ ? इधर स्वाधीनता-आन्दोलन की गरमी के कारण समाचार-पत्रों के प्रचार और आय में भी वृद्धि हो रही थी। फलतः व्यापारी वर्ग स्वयं समाचार-पत्रों के रणक्षेत्र में उतर पड़ा। धनी लोग पुराने पत्रों को खरीदने या अपने नये पत्र निकालने लगे, इस प्रकार तीसरा युग प्रारम्भ हुआ।

इस तीसरे युग में पत्रकार-कला और पत्रों की परिस्थिति में इतना भारी परिवर्तन आ गया कि उसे हम क्रान्ति कह सकते हैं। जो लोग लम्बी थैली लेकर मैदान में आए, उन्होंने पुराने पत्रों को दबाने के लिए पत्रकारों के वेतन बढ़ा दिए, और पत्र-सम्बन्धी प्रत्येक व्यवस्था मँहगी कर दी। इससे यह तो लाभ हुआ कि पत्रकारों की आर्थिक आय बढ़ गई, परन्तु उसके बदले में जो वस्तु खोई गई, वह थी उनकी स्वाधीनता। पत्रकार स्वाधीन योद्धा न रहकर रोजगारी व्यक्ति बन गया। समाचार-पत्रों का कलेवर बढ़ गया, परन्तु आत्मा क्षीण हो गई।

ये दोनों युग-परिवर्तन मैंने अपने ३२ वर्षों के पत्रकार-जीवन में देखे और अनुभव किये हैं। मैं समाचार-पत्र को एक युद्ध-भूमि समझकर पत्रकार बना था, कुछ तो आर्थिक स्थिति में परिवर्तन के कारण, और कुछ विदेशी राज्य हट जाने के कारण; वह अब युद्ध-भूमि नहीं रहा, व्यापार की मण्डी बन गई है। इन कारणों से मैंने यही निश्चय कर लिया है कि अब विधिपूर्वक पत्रकार बने रहना ठीक नहीं। लिखने का व्यसन है, उसे तो पूरा करता ही रहूँगा, किन्तु बँधकर नहीं, स्वतन्त्र होकर।

बाबू गुलाबराय

बाबू गुलाबराय द्विवेदी-युग की शृङ्खला के लेखक हैं। आपने दर्शन-शास्त्र-विषयक लेखों और पुस्तकों के प्रणयन द्वारा हिन्दी-साहित्य के मन्दिर में प्रवेश किया और धीरे-धीरे एक रस-सिद्ध आलोचक के प्रतिष्ठित आसन पर आ विराजे। आपकी अध्ययनशीलता और लेखन-तत्परता का ही यह परिणाम है कि आपने हिन्दी-साहित्य में दर्शन-विज्ञान तथा आलोचना-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ लिखे। आपकी लेखन-शैली सरलतम माध्यम द्वारा गम्भीर-से-गम्भीर विषय को प्रस्तुत करने की अद्भुत क्षमता रखती है। आपके आत्म-संस्मरणात्मक हास्यपूर्ण निबन्ध बिलकुल नवीन शैली और अभिव्यञ्जना के द्योतक हैं। आज के आलोचकों में आप मूर्धन्य स्थान रखते हैं।

मैं और मेरी कृतियाँ

मेरा जन्म माघ शुक्ला चतुर्थी सम्वत् १६४४ को एक वैश्य परिवार में हुआ था। यद्यपि मेरे पिता सरकारी नौकर थे तथापि मेरे पूज्य पितामह वैश्य-वृत्ति पर ही अपना जीवन-निर्वाह करते थे। उनकी घर की दुकान तो थी, किन्तु वे उन दुकानदारों में से थे जो नित्य प्रातःकाल को अपने भगवान् से छप्पन करोड़ की चौथाई माँगा करते हैं और सायंकाल के समय उतना ही अन्न और धन लेकर घर लौटते थे जितना कि उनके परिवार को सुखपूर्वक खाने-पीने के लिए पर्याप्त हो। मैंने अपने पितामह से प्रत्यक्ष रूप में एक ही वस्तु केवल दाय स्वरूप में प्राप्त की है। उनकी दुकान पर बैठे हुए मेरे पितृव्य (ताऊ जी) ने एक बार चन्दन-चूरे की पुड़िया बाँधते हुए कबीर के दोहे का यह अंश पढ़ा था, 'चन्दन की चुटकी भली, न भलो गाड़ी भरो कबाड़' दोहा मुझे याद हो गया। उस समय मैं तो इसका अर्थ पूरी तरह से नहीं समझ पाता था किन्तु कुछ पढ़-लिख जाने के बाद इसका अर्थ समझ में आया और परिमाण की अपेक्षा गुण को अधिक मूल्य देने लगा। मेरे पिता जी भी अपनी ईमानदारी के कारण लक्ष्मी जी के कृपा-पात्र नहीं बन सके। यद्यपि अर्थ की कमी के कारण मुझे किसी प्रकार के कष्ट का सामना नहीं करना पड़ा, तथापि मैं कुल और धन के वृथाभिमान से बचा रहा। मेरे पिता जी सनातन धर्मी होने के कारण कार्य-व्यवस्था और ऊँच-नीच के भावों में विश्वास रखते थे किन्तु अपेक्षाकृत धनाभाव ने मुझमें समता-भाव की इतनी गहरी नींव डाली थी कि मुझमें ऊँच-नीच के भाव न पनप सके, फिर भी मुझमें किसी प्रकार की उद्धतता या

उद्दण्डता नहीं आई। यह मेरे शील स्वभाव के विरुद्ध था। मेरी लेखनी में उग्रता का अभाव रहा, किन्तु उसके कारण कुछ व्यंजना-शक्ति बढ़ गई।

मेरे माता-पिता ही धार्मिक न थे (मेरी माताजी प्रातःकाल सूर और कबीर के भजन गाया करती थीं, उन भजनों से मुझे भी प्रेम था) वरन् अड़ोस-पड़ोस में भी धर्म-चर्चा और कथा-वार्ता हुआ करती थी। उन दिनों पौराणिक कथाओं में केवल आकर्षण-मात्र ही न था वरन् उनमें मुझे ध्रुव घटनात्मक सत्य की प्रतीति होती थी। प्रह्लाद की कथा के आधारपर एक बार बिल्ली के बच्चे को कुम्हार के आवे के पास बैठा हुआ देखकर मैं सचमुच यह विश्वास कर बैठा था कि यह बच्चा भी आवे में बन्द हो गया था और भगवान् की कृपा से बच गया है। अब तो उनमें अधिकतर आलंकारिक सत्य ही प्रतीत होता है। यद्यपि अंग्रेजी शिक्षा के बुद्धिवाद ने उन कथाओं की स्वर्णिम आभा को कुछ धीमा कर दिया था तथापि उन धार्मिक संस्कारों ने मेरे लेखक होने में बड़ी सहायता दी और शैली को बल प्रदान किया। धार्मिक मनुष्य में कुछ प्रचारक बुद्धि आ जाती है और उसमें आत्माभिव्यक्ति की मात्रा साधारण मनुष्य की अपेक्षा कुछ बाहुल्य धारण कर लेती है। इसके अतिरिक्त मेरा विश्वास है कि जो लेखक अपने देश की संस्कृति-परम्पराओं और पौराणिक कथाओं से परिचित नहीं होता वह जनता-जनार्दन के हृदयतल तक अपनी पहुँच नहीं कर सकता। मेरे धार्मिक संस्कारों ने ही मुझे संस्कृत के अध्ययन की ओर प्रेरित किया था। उन दिनों सरकारी नौकरी के लिए उर्दू का ज्ञान पासपोर्ट समझा जाता था। मेरे पिता जी सरकारी नौकर थे और सरकारी नौकर बनाने के उद्देश्य से ही उन्होंने मुझे उर्दू-फारसी की चलती राह में डाल दिया था। आठवें दर्जे तक मैंने फारसी पढ़ी, उसके व्याकरण की सरलता पर मैं मुग्ध था, किन्तु उसकी

लिपि के रहस्य मेरे लिए दुर्भेद्य थे। मैं फारसी भी 'स्वाद' से लिखता था, किन्तु उसे 'सीन' से लिखना चाहिए था। फारसी के उच्चारण में मेरा 'लबो-लहजा' तो दुरुस्त था लेकिन लिखने में नियमाभाव के कारण मैं पिछड़ा हुआ था।

× × ×

नवें दर्जे में आते ही धार्मिक संस्कारों ने जोर मारा और मैंने संस्कृत पढ़ना आरम्भ कर दिया और जिस प्रकार नया मुसलमान अल्लाह-ही-अल्लाह पुकारता है मैंने भी बात-बात में संस्कृत बघारना आरम्भ कर दिया। उसका मेरे लिखने पर भी प्रभाव पड़ा। यद्यपि मैं बी० ए० में एक बार संस्कृत में फेल हो गया था तथापि मुझे उसका खेद नहीं। यदि मैंने संस्कृत न पढ़ी होती तो मैं आज ठोक-पीटकर भी लेखकराज न बन सका होता। हिन्दी में मैंने तुलसी-कृत 'रामायण' के धार्मिक पारायणों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं पढ़ा था। अर्थ ग्राउस साहब के अंग्रेजी अनुवाद से समझा था। 'विनय पत्रिका' के दो-चार शब्द पढ़ लिए थे। सूर के पद माताजी से सुने थे। संस्कृत से और बाल-विनोद में सीखी हुई बंगाली के चंचु-प्रहारी ज्ञान के कारण मेरा शब्द-भण्डार सम्पन्न बन चला था। अभिव्यक्ति के लिए मेरे पास यही साहित्यिक सम्बल था जिसके सहारे मैंने साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश किया।

× × ×

मेरी अनुभूति की दो मूल आधार-शिलाएँ थीं। एक धार्मिकता के फलस्वरूप प्राप्त दार्शनिकता और दूसरी थी बंग-भंग से प्रारम्भ होने वाली राष्ट्रीय चेतना, जिसने मुझे 'निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल' का पाठ पढ़ाया। इन दोनों प्रभावों की संक्षिप्त कथा इस प्रकार है—

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में धर्म का ऐसा प्रहसन था जैसा कि आजकल है। आर्य समाज और सनातन धर्म के शास्त्रार्थों में

लोग उतनी ही रुचि लेते थे जितनी कि मल्लयुद्धों अथवा आज-कल के अन्तर्राष्ट्रीय क्रिकेट-मैचों में। मैं भी आर्य समाज के विरुद्ध सनातन धर्म की बौद्धिक व्याख्या करने में तत्पर रहता था। मैं उन लोगों में न था जो धर्म के मामले में 'अकल का दखल' नहीं चाहते। इस बौद्धिक व्याख्या ने मुझे विचारशील बना दिया था और मेरी रुचि दर्शन और तर्क की ओर हो गई थी। वकालत करने के स्वप्न ने भी तर्क-शास्त्र की ओर मेरी प्रवृत्ति को कुछ तीव्र बना दिया था। मैं तर्क-शास्त्र के विद्यार्थियों में अग्रगण्य था। इस विषय के अवैतनिक ट्यूशन करने का मुझे व्यसन-सा हो गया था। कुछ को तो स्नेहवश पढ़ाता था और कुछ को केवल शान जताने के लिए; क्योंकि शान जताने के लिए मेरे पास और कुछ न था। कपड़ों के नाम से एक पट्टू का कोट था और सामान के नाम पर एक टूटा चीड़ का बक्स। फिर शान किस चीज़ की दिखाता? तर्क-शास्त्र का अध्ययन-कार्य भी मैंने कालिज में किया, इसीलिए मैं तर्क-शास्त्र की तीन पुस्तकें लिखने में विशेष सफल रहा। मेरी वे पुस्तकें 'हिन्दुस्तानी एकेडेमी' से पुरस्कृत भी हुईं। यद्यपि तर्क-शास्त्र के विधिवत् अध्ययन करने पर वकालत करने के इच्छुक विद्यार्थी का वह सुख-स्वप्न तो भंग हो गया कि तर्क-शास्त्र के अध्ययन से स्याह को सफेद और झूठ को सच साबित कर देने की शक्ति आ जायगी तथापि उसके अनुशीलन से मेरे लेखन में एक विशेष क्रम और व्यवस्था आ गई है और पक्ष तथा विपक्ष की युक्तियों के सन्तुलन में मैं मानसिक ईमानदारी से काम लेने लग गया हूँ। अपने विपक्ष की बात को भी मैं उतना ही मान देता हूँ जितना कि पक्ष की बात को। मेरी प्रारम्भिक कृतियाँ दार्शनिक ही रहीं। एम० ए० पास कर लेने के पश्चात् मेरी नियुक्ति छतरपुर राज्य में एक दार्शनिक के रूप में हुई थी। वहाँ पर महाराज के यहाँ जनक-सभा-सी लगी रहती

थी और देश-विदेश के पण्डितों तथा विद्वानों का समागम हुआ करता था। वहाँ ही मुझे भारतीय दर्शनों से विशेष परिचय हुआ और मेरे अध्ययन में विस्तार के साथ गाम्भीर्य भी आया। मैं उसी अध्ययन को सार्थक समझता था जिसके आधार पर कुछ लिख सकूँ; फिर भी न मैंने अनुवाद किया और न चोरी की। यही मेरे लेखक होने का रहस्य है। पौष्टिक भोजन की भाँति सुपाठ्य सामग्री को चर्वण द्वारा आत्मसात् किया और नई सृष्टि की।

× × ×

मैंने सन् १६०५ में कालिज-जीवन में प्रवेश किया था। उन दिनों बंग-भंग के कारण देश में स्वदेशी-आन्दोलन की बाढ़ आई हुई थी। हाट-बाट में, घर और बाहर स्वदेशी की दुहाई दी जाती थी। स्वदेशाभिमान की थोड़ी-बहुत मात्रा मुझमें पहले ही से थी। आन्दोलन ने मुझे पूर्णरूपेण स्वदेशी रंग में रँग दिया। आगे चलकर स्वदेशी और देश-प्रेम की भावना ने मुझे हिन्दी की ओर आकर्षित किया। उन दिनों अर्थात् १६०५ और १६१३ के बीच में बहुत-सा राष्ट्रीय साहित्य अंग्रेजी में निकलता था। किन्तु हिन्दी के कुछ सुन्दर प्रकाशन आरम्भ हो गए थे। १६१३ में दर्शन-शास्त्र में एम० ए० करने के पश्चात् मेरे पास नए विचारों का बाहुल्य-सा हो गया। मैं आत्माभिव्यक्ति के लिए पहले ही छटपटा रहा था। प्रेम-मन्दिर आरा के कुमार देवेन्द्र-प्रसाद जैन के नयनाभिराम प्रकाशनों ने उस इच्छा को प्रबल कर दिया। मैंने उनके लिए 'शान्ति-धर्म' नाम की पुस्तक लिखी। उस समय तक मेरी बाल्यकालीन ईश्वर-भक्ति देश-भक्ति के आवश्यक विश्राम-स्थल को पार करके विश्व-प्रेम की ओर अग्रसर हो रही थी। स्वामी रामतीर्थ तथा स्वामी विवेकानन्द की कृतियों ने विश्व-प्रेम को एक दार्शनिक आधार प्रदान कर दिया था। उसी समय कवीन्द्र रवीन्द्र 'गीताञ्जलि' पर नोबल-पुरस्कार प्राप्त करने

के बाद साहित्यिक क्षितिज में एक उज्ज्वल नक्षत्र के रूप में उदित हुए। बाहर मान होने पर ही उनका घर में मान हुआ। कवीन्द्र रवीन्द्र के ग्रन्थों को घर में रखना फ़ैशन-सा हो गया था। मैंने फ़ैशन के भूत के वश नहीं वरन् वास्तविक श्रद्धा और रुचि के साथ उनका अध्ययन किया था। 'गीताञ्जलि' के कुछ गीतों का मैंने हिन्दी में गद्य-गीतों के रूप में अनुवाद भी किया था, किन्तु वे गीत अब किसी 'मेगजीन' की पुरानी फ़ाइलों में सुख-निद्रा का अनुभव कर रहे होंगे। इन प्रभावों के अतिरिक्त दो घटनाएँ और भी घटीं। एक तो यह कि उन दिनों जेम्स एलन के ग्रन्थ बड़ी श्रद्धा के साथ पढ़े जाते थे। एक श्रद्धालु प्रकाशक ने मुझ से उनके किसी ग्रन्थ का हिन्दी में अनुवाद करने का प्रस्ताव किया। मैंने उसे युवकोचित गर्व के साथ लिख दिया कि मैं अनुवाद तो नहीं कर सकता परन्तु वैसी एक स्वतन्त्र पुस्तक लिख सकता हूँ। दूसरी घटना यह हुई कि उन्हीं दिनों में मैंने 'भारत मित्र' अखबार में एक प्रसिद्ध लेखक के काव्य-संग्रह की आलोचना में पढ़ा था कि इसकी भाषा न्युरी भाषा है, न खड़ी है और न पड़ी, इसका छन्द गुजई (गेहूँ चने का मिश्रण) छन्द है और इसका पद्य ऐसा है जो गद्य के भी कान काटता है। उसी समय मेरे मन में आया कि मैं ऐसा पद्य लिखूँ जो गद्य के भी कान काटे। 'फिर निराशा क्यों' नामक पुस्तक इसका साक्षात् उदाहरण है। मैंने इस गर्वपूर्ण दावे को कहाँ तक चरितार्थ किया, तो मैं नहीं कह सकता कि मेरी यह किन्तु यह पुस्तक उन्हीं प्रभावों का फल थी। उसमें मेरे विश्व-प्रेम-सम्बन्धी विचारों की अभिव्यक्ति हुई है। इसी पुस्तक के पुण्य-प्रताप से मुझे आचार्य शुक्ल जी के इतिहास में आदरपूर्ण स्थान मिला है। इस आत्म विज्ञापन को पाठकगण क्षमा करेंगे।

× × ×

छतरपुर में रहकर मैंने दर्शन-शास्त्र-सम्बन्धी तीन और भी पुस्तकें लिखीं। 'तर्क-शास्त्र' का उल्लेख ऊपर हो चुका है। 'कर्तव्य-शास्त्र' और 'पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास' नामक पुस्तकें भी मैंने लिखीं। यद्यपि मेरी गिनती साहित्यिकों में होने लगी थी तथापि मैं साहित्य से बिलकुल अछूता था। साहित्य में मुझे रुचि अवश्य थी, किन्तु मेरा हिन्दी-साहित्य का अध्ययन नहीं के बराबर था। मैंने दर्शन-शास्त्र की लाठी के सहारे ही साहित्य में प्रवेश किया। प्रज्ञाचक्षु श्री धनराज शास्त्री से मैंने रस-सिद्धान्त के विषय में कुछ सुना था। उसको सुनकर मुझे यह अनुभव हुआ कि रस-सिद्धान्त के अध्ययन में विशेष मनोविज्ञानिक सामग्री प्राप्त होने की सम्भावना है। थोड़ा अध्ययन करके पहले रस पर एक छोटी-सी पुस्तक लिखी फिर महाराज के विस्तृत पुस्तकालय की खोज की तो उसमें हिन्दी में भी पर्याप्त सामग्री मिली। वहाँ वैष्णवाचार्यों के अध्ययन करने का भी अवसर मिला। फलस्वरूप मैंने 'नव रस' नाम का रस पर एक बड़ा ग्रन्थ लिखा।

राजकीय कार्य-भार मेरे ऊपर हल्का न था, किन्तु महाराज साहब और दीवान साहब की कृपा होने के कारण वह अखरता न था और अध्ययन तथा मनोविनोद के लिए अवकाश मिल जाता था। छतरपुर की मित्र-मण्डली के हास्य-विनोद की छाया मेरे 'ठलुआ-क्लब' में पड़ी है। मैं तो उस पुस्तक का नाम 'ठलुआ नवरत्न' रखना चाहता था, किन्तु मिश्रबन्धुओं के 'हिन्दी-नवरत्न' की स्पर्द्धा के दोष से बचने के लिए उसका नाम 'ठलुआ-क्लब' रख दिया। वह शास्त्र-विनोद-सम्बन्धी मेरी पहली पुस्तक थी। उसकी भूमिका में मुन्शी प्रेमचन्द ने लिखा था कि इसमें 'पिकविक पेपर्स' की छाया थी। मैं सगर्व कह सकता हूँ —उतनी ही जितनी कि उनके किसी उपन्यास में (शायद 'रंगभूमि' में)

'वेनिटी फेयर' की छाया बतलाई गई थी। और शायद उससे भी कम मैंने बाल्य-काल में 'पिकविक पेपर्स' अनवरत पढ़े थे किन्तु जब पुस्तक लिखी थी तब डिकिन्स की उस पुस्तक का नाम भी स्मरण नहीं आया था। उसका जन्म तो छतरपुर-विनोद-वार्ता में हुआ था।

× × ×

छतरपुर से लौटने पर आगरा में मकान की तलाश में जो टक्करें खानी पड़ीं उनके विनोदपूर्ण वर्णन में 'मेरी असफलताएँ' नाम की आत्मकथात्मक हास्य-विनोदपूर्ण निबन्धों की पुस्तक का सूत्रपात हुआ। उसमें मैं अपने ऊपर ही हँसा हूँ। छतरपुर से लौटने पर मैंने स्वान्तः सुखाय के अतिरिक्त 'उदर-निमित्त' या 'अर्थकृते' भी बहुत-कुछ लिखा। 'अर्थकृते' लिखी हुई पुस्तकों में मेरी 'प्रबन्ध-प्रभाकर' और 'हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास' का अधिक प्रचार हुआ है। 'विज्ञान-विनोद' भी मैंने 'अर्थकृते' ही लिखा था, किन्तु उसके लिखने में मुझे विशेष प्रसन्नता इसलिए हुई है कि वह पुस्तक मुझे उन दिनों की याद दिला देती है जिन दिनों मैं सेकिण्ड ईयर कक्षा का छात्र होते हुए भी विज्ञान की किताबें अपने सहपाठियों से माँग-माँगकर पढ़ा करता था और उसके अतिरिक्त अध्ययन के कारण मुझे एक बार एम० ए० में भी गोता खाना पड़ा था। "शनैः कन्था शनैः पन्था शनैः पर्वतलंघनम्, शनैः विद्या च वित्तं च पंच शनैः-शनैः" की बात थी। 'नव-रस' के बाद मैंने दूसरा बड़ा ग्रंथ 'सिद्धान्त और अध्ययन' पहला और दूसरा भाग—(काव्य के रूप) लिखा, वह बहुत दिनों की साधना का फल है। उसके लिखने की प्रेरणा मुझे बाबू श्याम-सुन्दरदास जी के 'साहित्यालोचन' से मिली थी। अब मैंने साहित्य से विराम तो नहीं लिया है किन्तु अब दार्शनिक संस्कार फिर जाग्रत हुए हैं। मनोविज्ञानिक विषयों को साहित्यिक रूप देने के

उद्देश्य से कुछ निबन्ध लिखे हैं जो 'मन की बातें' शीर्षक से पुस्तकाकार में छप भी रहे हैं।

लेखन ही मेरा प्रिय व्यसन है। यह व्यसन थोड़ा फल-प्रद भी हुआ। मेरे लिए काले अक्षरों ने भैंस का दूध सम्भव बनाया है। मेरे लिए तो वास्तव में काले अक्षर भैंस बराबर हैं। कालिज में तो मुझे सप्ताह-भर में तीन पीरियड अर्थात् सवा दो घंटे ही मिलते हैं किन्तु 'साहित्य-संदेश' तथा पुस्तकों द्वारा मुझे एक विस्तृत कक्षा के अध्ययन का सुख मिल जाता है। लिखने-पढ़ने से जो समय बचता है वह जीवन का भार वहन करने में और हास्य-विनोद के साथ उसके सौंदर्य-दर्शन में जाता है। जीवन का सौंदर्य-दर्शन ही उसके भार को हल्का करता रहता है।

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

बख्शी जी पहले 'सरस्वती' के सम्पादक के रूप में विख्यात हुए और बाद में हिन्दी के प्रमुखतम समालोचकों में आपकी गणना होने लगी। हिन्दी के समीक्षा-साहित्य के के अंगों को आपने पाश्चात्य साहित्य के आलोचना-सिद्धान्तों के समीकरण द्वारा अभिवृद्ध किया। आपकी अधिकांश समीक्षा-कृतियों में विदेशी साहित्य का गम्भीर अध्ययन स्पष्ट परिलक्षित होता है। आलोचना के अतिरिक्त आपने अनेक सफल कहानियाँ भी लिखी हैं। जिनके कारण आपकी गिनती आज हिन्दी के उत्कृष्टतम कहानीकारों में होती है। आपकी शैली में गूढ़-से-गूढ़ विषय को सरल-से-सरलतम रूप में कहानी जैसी रोचकता के साथ अभिव्यक्त करने की अद्भुत क्षमता है।

अपनी बात

हम सभी यात्री हैं। विज्ञों का यही कथन है कि हम लोग अनन्त पथ के पथिक हैं। देश असीम है, काल अनन्त है, और हमारी यह जीवन-यात्रा भी निरवधि है। हम स्वयं नहीं जानते कि कब हमारी यह यात्रा प्रारम्भ हुई, कब उसका अन्त होगा और कहाँ उसकी समाप्ति होगी? हम यह भी नहीं जानते कि कौन हमारा गन्तव्य स्थान है और किस लक्ष्य से हम यह यात्रा कर रहे हैं। हममें कुछ विज्ञ हैं और अधिकांश अज्ञ, कुछ बड़े लोग हैं और अधिकांश क्षुद्र, कुछ की गुरुता के भार का अनुभव संसार करता है और अधिकांश संसार के लिए भार रूप हो रहे हैं। कुछ महिमा के रथ पर बैठकर और कीर्ति की ध्वजा उड़ाकर बड़े वेग से जाते हैं और अधिकांश धूलि-धूसरित पथ पर मलिनता में लिप्त होकर किसी प्रकार आगे बढ़ते चले जाते हैं। पर इसमें सन्देह नहीं कि सभी यात्री हैं। सभी के पथ भिन्न-भिन्न हैं। कोई किसी का साथी नहीं। कुछ समय के लिए भले ही हमें कोई पथ पर मिल जाय और तब हम कुछ समय तक साथ-साथ चलते रहें, पर अन्त में हम लोग अलग हो ही जाते हैं। वह अपनी राह जाता है और हम अपनी राह जाते हैं। संसार में यही संयोग और वियोग है। कुछ आगे जा रहे हैं, कुछ पीछे जा रहे हैं और कुछ साथ-साथ चल रहे हैं। पर सभी अपनी-अपनी राह के पथिक हैं और सभी अपने-अपने पथ पर अग्रसर हो रहे हैं।

× × ×

मेरे जीवन-पथ पर भी कितने ही लोग आये और चले गए। जो कभी मेरे अत्यन्त समीप थे, वे आज मुझसे इतनी दूर हट गए हैं कि अब उनकी स्मृति भी क्षीण हो गई है। ऐसा जान

पड़ता है कि मानो उनसे मेरा कोई सम्बन्ध ही नहीं था। इसी प्रकार जो कभी मेरे लिए सर्वथा अपरिचित थे, वे आज मेरे इतने आत्मीय हो गए हैं कि उन्हीं की सुख-दुःख-चिन्ता में मैं अब व्यग्र हूँ। कब ये मुझसे दूर हट जायँगे, इसे कौन जानता है?

जिनके मस्तक पर काल का अक्षय राज-टीका लगा है, वही अपने जीवन-पथ पर अपना अमिट पद-चिह्न छोड़ जाते हैं। यह है उनकी अक्षय कीर्ति। देश और काल की सीमा को अतिक्रमण करके उनकी वह उज्ज्वल कीर्ति प्रकाशमय नक्षत्र की तरह सभी यात्रियों के लिए पथ-प्रदर्शक बन जाती है। उससे उनको अन्धकार में ज्योति मिलती है, नैराश्य में आशा आती है, विषाद में स्फूर्ति मिलती है। परन्तु यह बात सभी यात्री जानते हैं कि ऐसा पथ उन लोगों के लिए नहीं है। ऐसे लोग पृथ्वी और मानव-जीवन से अत्यन्त दूर, व्योम-पथ में विहार करते हैं। हमारे समान लोगों के लिए देश और काल की सीमा अत्यन्त क्षुद्र है। हम लोग उसी क्षुद्र सीमा में बद्ध होकर, क्षुद्र कार्यों में व्यस्त रहकर, अपनी यह क्षुद्र जीवन-यात्रा व्यतीत करके चले जाते हैं। न जीवन-काल में ही किसी की दृष्टि हम पर पड़ती है और न मृत्यु होने पर कोई हम पर दृष्टि-पात करता है। कोई हमारे लिए व्यग्र नहीं होता, किसी को हमारे अभाव का ज्ञान नहीं रहता। हम जैसे अज्ञात रूप से प्रकट होते हैं, वैसे ही अज्ञात भाव से विलीन हो जाते हैं। संसार की यात्रा होती ही रहती है। किसी के कार्य में क्षण-भर के लिए बाधा नहीं होती किसी की गति में पल-भर के लिए रुकावट नहीं होती।

× × ×

मैं कभी बालक था, फिर युवा हुआ और अब प्रौढ़ावस्था को अतिक्रमण करके अन्तिम क्षण की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। न मेरा वह शरीर रहा, न मेरा वह मन। फिर भी मुझे यही जान पड़ता है कि मैं वही हूँ जो पहले था। मुझमें जो-कुछ परिवर्तन हुआ

यह इतने स्वाभाविक भाव से हुआ है कि मैं कभी यह जान ही नहीं सका कि कब मैं युवक हुआ, कब वृद्ध हुआ और कब मेरी मानसिक या शारीरिक स्थिति में परिवर्तन हुआ! १६१६ तक मैं अध्ययन करता रहा और १६१६ से आज तक अध्ययन और और अध्यापन का ही काम करता आ रहा हूँ। खुद पढ़ा और दूसरों को पढ़ाया, खुद लिखा और दूसरों को लिखाया। दूसरा काम मैंने किया ही नहीं। दूसरा काम करने की ओर मेरी प्रवृत्ति ही नहीं हुई। लिखना-लिखाना पढ़ना-पढ़ाना यही मेरे जीवन का मुख्य व्यवसाय रहा है। १६०६ से लेकर आज तक मैंने गद्य-पद्य में कितनी ही रचनाएँ की हैं। उनमें सार न रहने पर भी, उन्हीं में मेरे जीवन का अधिकांश काल व्यतीत हुआ है। उन्हीं में मेरी महत्त्वाकांक्षाएँ और लालसाएँ लीन हैं, उन्हीं पर ज्ञान, अभिमान और आत्म-गौरव व्यवस्थित हैं। उन्हीं में मेरी रुचि, मेरी अनुभूति और मेरी भावनाएँ हैं। उन्हीं में मेरे निजत्व का विकास हुआ है। उन्हीं के कारण मैं यह समझने लगा था कि मैंने भी कुछ काम किया है। परन्तु आज जब मैं अपने अतीत जीवन की बातें सोचता हूँ तब मुझे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह तो मेरा जीवन नहीं है। यम-लोक में मुझसे चित्र-गुप्त यह पूछने नहीं बैठेंगे कि तुमने क्या लिखा और लिखाया अथवा क्या पढ़ा और पढ़ाया। उनकी बही में मेरे 'झलमला', 'शतदल' या 'नवयुग पाठमाला' के नाम नहीं होंगे। उनमें मेरी साहित्य-सेवा अथवा आत्म-प्रशंसा के प्रमाण-पत्र नहीं होंगे। मैंने अपने जीवन-काल में जिन बातों को महत्ता दी है उनमें से शायद एक भी बात उस बही में न होगी। पर उसमें जो कुछ होगा, वही मेरा यथार्थ जीवन है। अभी तो मैं यही नहीं समझ पाता हूँ कि धर्मराज के सामने मुझे अपने जीवन का क्या हिसाब देना पड़ेगा।

हम सभी लोगों के जीवन में दो भिन्न-भिन्न धाराएँ बह रही हैं। ये दोनों धाराएँ इतनी विभिन्न हैं कि मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि मानो एक शरीर में दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति निवास करते हों। एक जीवन में हम स्वतन्त्र रहते हैं और दूसरे में परतन्त्र। एक में कर्त्तव्य की प्रधानता रहती है और दूसरे में प्रवृत्ति की। एक में हमारा मनुष्यत्व रहता है और दूसरे में हमारा व्यक्तित्व। अंग्रेजी के एक लेखक ने अपने एक उपन्यास में एक ही मनुष्य में उसके दो प्रकार के व्यक्तित्वों को अलग-अलग करके उनके कार्यों का पृथक्-पृथक् रूप से वर्णन किया है। मैं दूसरे की बात नहीं कह सकता, पर मुझे ऐसा प्रतीत हुआ है कि मेरा एक जीवन एक ओर अग्रसर हो रहा है तो दूसरा जीवन दूसरी ओर प्रवाहित हो रहा है। अपने जीवन में मेरा जिनसे घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, मेरे दूसरे जीवन में वही मेरे लिए नगण्य है। इन दोनों जीवनों में परस्पर विरोध भी होता है और मेल भी। एक के कारण कभी दूसरे में व्याघात होता है और कभी उन्नति। उन दोनों में भावों का पार्थक्य भी है, पर उन्हीं के संघर्ष से जीवन में भाव-वैचित्र्य और कर्म-वैचित्र्य आते हैं। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि एक जीवन में एक काम को निन्दनीय समझकर हम उसे छोड़ बैठते हैं, पर दूसरे जीवन में प्रविष्ट होते ही हम उसे साग्रह स्वीकार करते हैं और निस्संकोच कर डालते हैं। हमारी रुचि, हमारी प्रवृत्ति, हमारी रीति-नीति इन्हीं के कारण सदैव परिवर्तित होती रहती है। यह सच है कि ये दोनों जीवन किसी भी प्रकार पृथक् नहीं किये जा सकते, पर उनकी विद्यमानता पर मुझे तो सन्देह नहीं है।

मैं अपने जीवन को दो भागों में विभक्त कर सकता हूँ। एक कर्म-जीवन है और दूसरा भाव-जीवन। एक तथ्य का राज्य है और दूसरा कल्पना का। मैंने कभी तथ्य के राज्य में

विचरण किया है और कभी कल्पना के राज्य में। दोनों में मैंने सुख-दुःख, आशा-निराशा और उत्थान-पतन का अनुभव किया है। दोनों मेरे लिए समान रूप से सत्य हैं। छात्रावस्था में एक ओर मैं अपने कर्म-जीवन के लिए विश्व-विद्यालयों में उत्तीर्ण होने के लिए प्रयास कर रहा था और दूसरी ओर अपने भाव-जीवन के लिए यथेष्ट सामग्री भी संचित कर रहा था। उस समय मैंने ऐसे कितने ही काम किये हैं, जो मेरे कर्म-जीवन के लिए बाधास्वरूप हुए हैं; परन्तु उनके लिए आज तक मेरे मन में न ग्लानि हुई और न पश्चात्ताप। अवस्था के साथ-साथ इन दोनों की गति में परिवर्तन हुआ। सांसारिक ऐश्वर्य के साथ कर्म-जीवन का सम्बन्ध है। पर भाव-जीवन अपने लिए एक दूसरा ही ऐश्वर्य बना लेता है। अन्य लोगों की दृष्टि में मेरे जो कार्य उपहासजनक या तिरस्करणीय हुए हैं, उनसे भी मुझे सचमुच सुख और सन्तोष की प्राप्ति हुई है, क्योंकि उन्हीं को लेकर मैंने अपने भाव-जीवन में कल्पना का एक दूसरा ही राज्य स्थापित कर लिया। कभी-कभी इस कल्पन्ना-जगत् का प्रभाव मेरे कर्म-जीवन पर इतना अधिक पड़ा है कि मुझे उनके कारण विशेष हानि उठानी पड़ी। तो भी मैं उन कार्यों से विरत नहीं हुआ। एक ओर मेरा कर्म-जीवन बना रहा और दूसरी ओर मेरा भाव जीवन भी निर्बाध रूप से चलता रहा।

× × ×

खैरागढ़ मेरा जन्म-ग्राम है। सभी लोगों को अपने जन्म-ग्राम के प्रति एक विशेष ममता रहती है, पर मेरे लिए खैरागढ़ एक असाधारण स्थल रहा है। यहाँ न तो प्राकृतिक सौन्दर्य की विलक्षणता है और न मानवीय विभूति का प्रदर्शन। फिर भी मेरे लिए वह विशेष रूप से मनोरम है। बाहर से आते समय जब कोई चार मील दूर से उसकी झलक दिखाई देती है, तब उसकी

शोभा नेत्रों को तृप्त कर देती है। हरे-हरे वृक्षों से आच्छादित वाटिकाओं में जो एक उज्ज्वल ज्योति चमक उठती है, वह मेरे समान आगन्तुकों के लिए स्नेह की दीप्ति बन जाती है। मुझे ऐसा मालूम होता है मानो पुत्र के आगमन से जननी के मुख पर हर्ष और प्रेम की ज्योति चमक उठी हो। पर नगर के भीतर प्रवेश करते ही नदी के जीर्ण-शीर्ण तटों और कृश जल-धारा को देखकर मन में एक प्रकार की वेदना होने लगती है। ऐसा मालूम पड़ता है कि मानो अब माता की अक्षय स्नेह-निधि रिक्त हो रही है, मानो वह दृढ़ता पूर्वक अपने कोष को संरक्षित करने के लिए विफल प्रयत्न कर रही है और जैसे पुत्रों के उत्पीड़न और अत्याचार से वह विदीर्ण-सी हो रही है। नगर के चारों ओर आम के जो वृक्ष लगे हैं, वे भी अपनी हीनावस्था को सूचित करते हैं। दूर से जो हरियाली दीख पड़ती है, वह समीप आने पर बिलकुल विलुप्त हो जाती है। अधिकांश वृक्ष जीर्ण हो गए हैं। उनके सभी पत्ते धूलि-धूसरित हो गए हैं। जब पवन बहती है तब पत्तों की मर्मर ध्वनि से एक अव्यक्त हाहाकार की-सी ध्वनि सुनाई पड़ती है। कहीं-कहीं दो-चार पशु गाय, बैल या घोड़े चरते हुए दिखाई देते हैं, पर उनमें भी वही दैन्यावस्था दिखलाई पड़ती है। सभी में उदासीनता, विरक्ति और विषाद के ही भाव दृष्टिगोचर होते हैं। मोटर की आवाज सुनकर वे चकित नहीं होते, चुपचाप सिर उठाकर ऐसे निरपेक्ष भाव से ताकते हैं कि मानो उन्हें किसी की भी परवाह नहीं। जो दस-पाँच व्यक्ति इधर-उधर टहलते रहते हैं, उनमें भी वही शिथिलता और निश्चेष्टता लक्षित होती है। खेतों से लौटते हुए किसानों में भी उल्लास नहीं रहता। गाते हुए लोग मुझे रास्ते पर नहीं मिले। कभी-कभी लोगों को झगड़ते या चीत्कार करते हुए मैंने अवश्य देखा। जब कभी कोई परिचित व्यक्ति रास्ते में मिल जाता है,

तब वह भी उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। पहचान लेने पर भी उसके मुख पर कोई भाव उदित नहीं होता। स्नेह और प्रसन्नता की जो दीप्ति नगर में आने के पहले हृदय में उठी रहती है, वह आप-से-आप विलीन हो जाती है। मुझे ऐसा मालूम होता है कि मैं किसी स्नेह-हीन, क्रिया-हीन अपरिचित स्थान में आ गया हूँ।

मैं प्रायः सोचा करता हूँ कि मेरा १९०३ का खैरागढ़ कहाँ चला गया? वही नदी है, परन्तु वह दहरा कहाँ है? वही किला है, पर वह अट्टालिका कहाँ है? वही सड़क है और वही नगर है, परन्तु सरलता और उदारता के मूर्तिमान स्वरूप वे लोग कहाँ हैं? उस समय की रीति-नीति कुछ दूसरी ही थी। उस समय जीवन में स्फूर्ति थी, उमंग थी और उत्साह था। आजकल चारों ओर एक अवसाद-सा छाया रहता है। पहले मैत्री और शत्रुता दोनों सक्रिय थीं। आजकल मैत्री और शत्रुता दोनों में निष्क्रियता है। अब मैत्री का अर्थ है मौखिक सहानुभूति और शत्रुता का अर्थ है निन्दा। दोनों का अन्त बात ही में होता है। पहले लोग कम थे, पर जीवन की गति क्षिप्र थी। किसी के भी घर में कोई कार्य होने से सारा नगर व्यस्त-सा हो जाता था। इसी से सभी समय यहाँ आमोद-प्रमोद होता रहता था और चहल-पहल बनी रहती थी। अब चारों ओर एक निस्तब्धता-सी छाई रहती है, क्योंकि लोगों में परस्पर पार्थक्य बढ़ गया है। सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक लोग निर्जीव यन्त्रवत् एक ही तरह काम करते रहते हैं। एक ही बात को एक ही व्यक्ति से लोग पचीसों बार कहते हैं। कहने वाले ऐसी गम्भीरता से कहते हैं, मानो वे कोई नवीन अभूतपूर्व बात सुना रहे हों और सुनने वाले भी ऐसे ध्यान से सुनते हैं कि मानो वे पहली बार कोई अपूर्व कथा सुन रहे हैं। कर्म-वैचित्र्य के कारण अब लोगों में भाव-वैचित्र्य भी नहीं है। संसार में जीवन-सङ्घर्ष है, वह मानो यहाँ है ही नहीं। जीवन और मृत्यु की

लीलाएँ और दुःख और सुख की घटनाएँ उनके लिए समान रूप से कौतूहल-प्रद हैं। जिस मनुष्य के यहाँ दूसरे दिन के लिए खाने को भी नहीं है, वह भी अपने भाग्य को दोष देकर और दूसरे की निन्दा करके तृप्ति और सन्तोष का अनुभव कर लेता है। काल की विभीषिका यहाँ नहीं है, क्योंकि कार्य की क्षमता भी लुप्त हो गई है। लोग यथार्थ गौरव प्राप्त करने में असमर्थ होने के कारण आत्म-प्रशंसा के इच्छुक हो गए हैं और परस्पर एक दूसरे की प्रशंसा और अपने-अपने प्रतिपक्षियों की निन्दा करके अपनी हीनता में भी आत्म-गरिमा का अनुभव कर लेते हैं।

परन्तु वह कुछ दूसरा ही युग था। तब वैभव नहीं था, उदारता थी; ज्ञान नहीं था, नम्रता थी; तब शिष्टाचार और सभ्यता का प्रसार नहीं था, स्नेह था। सहानुभूति था और सेवा का भाव था। तब नगर एक कुटुम्ब-सा था। नीति और धर्म का व्यवधान स्नेह का बाधक नहीं था। कोई किसी का चाचा था तो कोई किसी का मामा। सभी लोग भ्रातृ-भाव के सूत्र से ग्रथित थे। तब सचमुच और बात थी। तब मैं भी तो बालक था और अब वृद्ध हो रहा हूँ।

× × ×

उन्हीं दिनों 'चन्द्रकान्ता' नामक उपन्यास की एक प्रति पाकर मैं हिन्दी के साहित्य-जगत् में प्रविष्ट हुआ था। तब से मैं आज तक हिन्दी-साहित्य का एक प्रेमी पाठक हूँ। इन ४१ वर्षों में हिन्दी-साहित्य की गति में जो-कुछ परिवर्तन या विकास हुआ है, उससे मैं अच्छी तरह परिचित हूँ। अपने पिता के पुस्तक-प्रेम के कारण १९०३ में ही मुझे हिन्दी की प्रायः सभी उत्तम पुस्तकें सुलभ हो गईं, परन्तु उन दिनों में जो पुस्तकें उत्तम थीं, उन्हें अब कदाचित् थोड़े ही पाठक पढ़ना पसन्द करेंगे। खत्रीजी के 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' नामक उपन्यासों के प्रेमी पाठक अब कितने हैं? लज्जाराम मेहता,

किशोरीलाल गोस्वामी, राधाचरण गोस्वामी, गंगाप्रसाद गुप्त, रामकृष्ण वर्मा, हरिकृष्ण जौहर या गोपालराम गहमरी की रचनाओं को अब कितने लोग चाव से पढ़ते हैं। 'परीक्षा-गुरु' को क्या आपने पढ़ा है? 'सज्जाद सम्बुल' के पन्ने क्या आपने कभी पलटे हैं? 'आदर्श-दम्पति' की कहानी क्या आप कह सकते हैं। 'धूर्त रसिकलाल' की धूर्तता से क्या आप परिचित हैं? इसी प्रकार उस समय जो उपन्यास बंग-भाषा से अनूदित किये गए थे, उनका भी अब प्रचार नहीं है। प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, राधा कृष्णदास, रामकृष्ण वर्मा, गंगाप्रसाद गुप्त आदि लेखक अनुवादक भी थे। 'मंडेल-भगिनी', 'गंजा-गोपाल', 'वन-कन्या,' 'सौदामिनी' आदि उपन्यास अब शायद खोजने से भी नहीं मिलेंगे। 'माधवी-कंकण' का अनुवाद सबसे पहले कदाचित् गहमरीजी ने किया था उसकी भाषा बड़ी कठिन थी। इतना मुझे स्मरण है कि भाषा-ज्ञान अल्प होने पर भी उसके समझने में मुझे कठिनता नहीं हुई। १९०४ से मैं 'सरस्वती' भी पढ़ने लगा और १९२० तक मैं बराबर 'सरस्वती' पढ़ता रहा। 'सरस्वती' के किस अंक में कौन लेख निकला है इसका भी मुझे स्मरण रहता था। द्विवेदीजी के नोटों को मैंने खूब पढ़ा था। मेरा तो विश्वास है कि द्विवेदीजी की अन्य रचनाओं से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण उनके वे नोट हैं। उनकी गणना मैं हिन्दी के स्थायी साहित्य में करता हूँ।

साहित्य में कितनी शीघ्र रुचि-परिवर्तन होता है, इसे मैं देख चुका हूँ। किसकी कृति में कितना सार है—इसका यथार्थ निर्णायक काल ही है। मेरे जीवनके आरम्भ-कालमें जो लोग हिन्दी-साहित्या-काश के देदीप्यमान नक्षत्र थे, वे अब अस्त होचुके हैं। उनकी ज्योति अब बिलकुल लुप्त हो गई है। कितने ही लेखक अब श्रद्धेय हो गए हैं, अर्थात् उनकी रचनाएँ अब पठनीय नहीं, आदरणीय हो गई हैं। हिन्दी के विज्ञ समालोचक उनकी रचनाओं के सम्बन्ध

में अतिशयोक्तिपूर्ण बातें भले ही कहते रहें, पर यह बात सच है कि लोग उनकी रचनाओं को अब पढ़ते नहीं। स्वयं द्विवेदीजी की रचनाएँ अब लोकप्रिय नहीं हैं। राजा लक्ष्मणसिंह और राजा शिवप्रसाद की रचना की तरह उस युग की प्रायः सभी आदर्श रचनाएँ अब इतिहास की वस्तु हो गई हैं। प्रतापनरायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, श्रीधर पाठक, बालकृष्ण भट्ट, ठाकुर गदाधरसिंह की रचनाएँ अब तरुण-साहित्य के अन्तर्गत नहीं, वे भी अब अतीत की सामग्री हो गई हैं।

मैं यह सोचता हूँ कि आधुनिक युग के कितने यशस्वी लेखक काल के आघात को सह सकेंगे। प्रेमचन्द की रचनाएँ अभी लोक-प्रिय हैं—परन्तु कुछ वर्ष पहले उनके प्रति पाठकों का जो अनुराग-भाव था, वह अब नहीं रहा। प्रसादजी की कृतियाँ भी अब समालोचना की वस्तु हो रही हैं। 'साकेत' और 'यशोधरा' को छोड़कर स्वयं गुप्त जी की अन्य रचनाएँ अब उतनी आकर्षक नहीं हैं। उपाध्याय जी का 'प्रिय-प्रवास' भी अब पाठकों के लिए विशेष प्रिय नहीं है। कविता-प्रेमी पाठक पन्त, वर्मा और बच्चन जी की कविताओं के अधिक अनुरागी हो गए हैं। इनकी रचनाओं में भी कितना स्थायित्व है, इसका निर्णय काल ही करेगा। पर इसमें सन्देह नहीं कि नवीनता के लिए अभी तक कवियों को स्वयं एक व्यग्रता है। वे स्वयं मानो यह अनुभव करते हैं कि उन्हें अपनी कल्पना के लिए एक नवीन क्षेत्र खोज निकालना पड़ेगा, यानी अवस्था के विकास के साथ उनकी कविता-कामिनी अपनी पूर्व-श्री और मादकता खो रही हो और अब जैसे उसके लिए नये परिधान, नये अलंकार और नया माधुर्य चाहिए।

क्रान्ति की भावना और नवीनता की प्रेरणा ने हिन्दी में जिस नवतरुण-साहित्य का प्रारम्भ किया है उसमें शक्ति का

अभाव है। भावों में अपूर्वता और विलक्षणता लाने के लिए उसमें उन्हीं कृत्रिम उपायों का अवलम्बन किया गया है जिनको रस-साहित्य के परवर्ती कवियों ने स्वीकार किया था। अलंकारों में परिवर्तन हो गया है, शैली परिवर्तित हो गई है, पर भाव के अभाव और अनुभूति की हीनता के कारण, उनमें भी उतनी ही कृत्रिमता, शिथिलता और रसाभास है। युवावस्था के उन्माद में जो उच्छृंखलता और स्फूर्ति प्रकट होती है, विनाश और विध्वंस की ओर जो प्रवृत्ति होती है, वासनाओं की अभिव्यक्ति के लिए जो आवेग रहता है, वही वर्तमान तरुण साहित्य में विद्यमान है। उनकी भक्ति, उनका अनुराग, उनके सभी भाव सीमा का उल्लंघन करने में ही अपनी सार्थकता समझते हैं। पर मनुष्य की उच्चतम आकांक्षा, उच्चतम आशा, उच्चतम शक्ति हिन्दी के किस कवि की वाणी से निःसृत होगी, यह अभी कौन जानता है?

इसके अतिरिक्त अभी कुछ ऐसे भी विज्ञ हैं जिनके व्यक्तित्व का प्रभाव हम पर है, जिनके नाम का आतंक है, और इसी से जो महिमा के शिखर पर अभी तक आसीन हैं। अपने पद-गौरव से उन्होंने हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र को आक्रान्त-सा कर लिया है और उनकी सभी रचनाएँ महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती हैं। पर उनकी कृतियों का कोई मूल्य नहीं है, यह काल स्वयं सिद्ध कर देगा।

× × ×

अधिकांश नवयुवकों की तरह मैं भी पद्य-रचना लेकर साहित्य के क्षेत्र में प्रविष्ट हुआ। साहित्य में पहले-पहल पद्य-रचना या कथा-रचना की ओर सबसे अधिक आकर्षण होता है। बात यह है कि ज्ञान और अनुभूति के अभाव में भी पद्य-रचना अथवा कथा-रचना अच्छी तरह की जा सकती है। ज्ञान का क्षेत्र परिश्रम-साध्य है और परिमित है, परन्तु कल्पना का क्षेत्र

असीम है। उसके लिए परिश्रम की आवश्यकता नहीं, प्रतिभा की आवश्यकता है। इसीलिए कहा जाता है कि कवित्व-शक्ति ईश्वर-प्रदत्त होती है। वैज्ञानिक अथवा ऐतिहासिक बनाये जा सकते हैं, परन्तु कवि और कलाकार जन्म से ही विलक्षण प्रतिभा लेकर आते हैं। प्रारम्भिक अवस्था में प्रतिभा की विलक्षणता सब में नहीं देखी जाती, पर लोग कवि अथवा कलाकार होने के लिए प्रयास अवश्य करते हैं। जब उन्हें अपनी सृजन-शक्ति की अल्पता का ज्ञान होता है, तब वे आप-से-आप उस कार्य से विरत हो जाते हैं और वे स्वयं यह अनुभव करने लगते हैं कि वे कवि या कलाकार नहीं हो सकते। तब वे अपने लिए दूसरा क्षेत्र स्वयं खोज लेते हैं। मैंने भी प्रारम्भ में कविताएँ और कहानियाँ लिखीं और फिर निबन्ध लिखने लगा। साहित्य का पाठक और शिक्षक होने के कारण, मैंने जो-कुछ लिखा वह पाठक और शिक्षक के ही दृष्टिकोण से लिखा। किसी विशेष विषय का ज्ञान न होने पर भी मैंने उक्त विषय पर दो-चार निबन्ध पढ़कर अपना एक अलग निबन्ध लिख ही डाला। 'भानुमती का कुनबा' मेरी कृतियों में विद्यमान है। न उनमें मौलिकता है और न नवीनता पर मुझे उनके लिए परिश्रम अवश्य करना पड़ा है।

× × ×

कुछ समय के बाद मुझे 'सरस्वती' में काम करने का अवसर मिल गया। उस समय द्विवेदीजी के कारण 'सरस्वती' का इतना गौरव था कि मैं स्वयं उसी में दो-चार लेख लिखने के कारण, लेखकों की पंक्ति में आसन पा गया था। मुझे अपनी अयोग्यता का अच्छी तरह ज्ञान था और 'सरस्वती' की गौरव-रक्षा करने के लिए मैंने अपनी ओर से यथेष्ट परिश्रम किया, परन्तु मुझे सफलता नहीं हुई। सामयिक पत्रों में एक ओर लोक-

रुचि का अनुसरण करना पड़ता है और दूसरी ओर लोक-रुचि का निर्माण भी करना पड़ता है। इसके लिए लब्ध-प्रतिष्ठ लेखकों की सहयोगिता भी प्राप्त करनी पड़ती है, और नये लेखकों की भी खोज करनी पड़ती है। पत्र में पाठकों की रुचि के अनुसार मनोरञ्जन की यथेष्ट सामग्री भी संचित करनी पड़ती है और उनकी रुचि को परिमार्जित करने के लिए विषय-वैचित्र्य के साथ-साथ नवीनता का भी समावेश करना पड़ता है। रुचि-वैचित्र्य के कारण कल्पना-प्रसूत साहित्य की परीक्षा बड़ी कठिन होती है। जो रचना एक को अच्छी लगती है वही दूसरे को निकृष्ट प्रतीत होती है। मैं स्वयं अपने मित्र भगवतीप्रसादजी वाजपेयी की कहानियों को पसन्द नहीं कर सका। आज वे हिन्दी के विख्यात कलाकार हैं। निरालाजी की क्रान्तिकारिणी कविता को छापने का साहस मुझे नहीं हुआ, पर उग्रजी की कहानियों के लिए मैं अवश्य लालायित रहा। कला में रुचि के साथ शैली भी परिवर्तित होती है। अब कविता की नवीन शैली लोक-प्रिय है। चित्रों का प्रकाशन नेत्र-रंजन के लिए होता है, पर साधारण पाठकों को जिन चित्रों में कोई भी विशेषता अथवा सुन्दरता नहीं दिखाई पड़ती, उन नवीन शैली के चित्रों के सतत प्रकाशन के द्वारा पाठकों की रुचि में अब यथेष्ट परिष्कार या परिवर्तन अवश्य कर दिया गया है। वे अब ऐसे चित्रों में नवीनता और सुन्दरता का आभास पाने लगे हैं। इसी प्रकार पहले-पहल जिन विषयों की ओर लोगों की रुचि नहीं थी, उनकी ओर अब उनकी रुचि हो गई है। पहले कौतूहलप्रद घटनाओं से पूर्ण कथाओं से उनका जितना मनोरंजन होता था, उतना अब नहीं होता। अब उसमें वे मानव-जीवन की झलक देखना चाहते हैं। साहित्य के के अन्य अंगों की ओर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अब पहले की अपेक्षा सभी अधिक सारवान हो गए हैं। पण्डित

पद्मसिंह शर्मा अथवा कृष्णबिहारी मिश्र के समान आलोचकों की आलोचनाओं को अब पाठक अधिक महत्त्व नहीं देंगे। बङ्ग भाषा के प्रसिद्ध आख्यायिका-लेखकों की कहानियों का अनुवाद अब हिन्दी के पत्रों में नहीं छपता। अधिकांश विषयों पर अब मौलिक लेख प्रकाशित होने लगे हैं। पर हिन्दी-साहित्य को इस स्थिति तक पहुँचाने के लिए हिन्दी के सामयिक पत्रों ने दस-पन्द्रह वर्षों तक जो काम किया है, वह उपेक्षणीय नहीं है। पण्डित रूपनारायण पाण्डेय तथा अन्य अनुवादकों के अनुवादों ने हिन्दी के पाठकों की रुचि परिमार्जित करने में कम काम नहीं किया है।

कथा-साहित्य में विशेष अनुराग होने के कारण मैंने उसमें भाव-वैचित्र्य और विषय-वैचित्र्य लाने के लिए अपने सम्पादन-काल में यथेष्ट परिश्रम किया। प्रेम की सस्ती भावुकतापूर्ण कहानियों को मैंने कभी महत्त्व नहीं दिया। मैंने नये लेखकों से नये ढङ्ग की कहानियाँ लिखाने का प्रयास किया। मैंने उनसे विदेशी कहानियों के अनुवाद भी कराए और विदेशी कहानियों के आधार पर नई कहानियाँ भी लिखाईं। ऐसी कहानियाँ मौलिक न होने पर भी कथा-शैली के निर्माण में बड़ा काम करती हैं। मेरी तो यह धारणा है कि हिन्दी में कहानी की अभी तक शैली ही बन रही है। सत्य की रश्मिच्छटा से रंजित जीवन की घटनाएँ किसी-किसी की ही रचनाओं में झलक उठती हैं। अधिकांश रचनाओं में तो अभी तक कल्पना के ही विकृत चित्र अङ्कित रहते हैं।

हिन्दी का साहित्य-क्षेत्र व्यवसाय की दृष्टि से लाभप्रद नहीं है। न तो उच्च कोटि के विद्वानों ने हिन्दी को अपनाया है और न अभी प्रकाशक ही इसके लिए प्रयत्नशील हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि लेखक समझते हैं कि प्रकाशक उन्हें ठग रहे हैं, अधिक से-अधिक काम कराकर कम-से-कम पारिश्रमिक दे रहे हैं। प्रकाशक यह समझते हैं कि लेखक उन्हें ठग रहे हैं, कम-से-कम काम

करके अधिक-से-अधिक पारिश्रमिक ले रहे हैं और पाठक यह समझते हैं कि लेखक और प्रकाशक दोनों ही उन्हें ठग रहे हैं। रद्दी किताबों के लिए उनसे अधिक-से-अधिक मूल्य ले रहे हैं। यह भावना हिन्दी-जगत् में कितनी काम कर रही है, इसका मुझे अच्छी तरह अनुभव है। हिन्दी में पुस्तकों का प्रचार परिमित है। किसी पुस्तक के तीन-चार संस्करण निकल जाना बड़ी बात है। इसी कारण लेखक का पारिश्रमिक और प्रकाशक का लाभ दोनों ही प्रथम संस्करण पर निर्भर करते हैं। इसी से दोनों को असन्तोष होता है। इसके अतिरिक्त प्रकाशकों को अभी तक मौलिक ग्रन्थों की अपेक्षा अनुवादों से ही अधिक लाभ हुआ है! अभी तक हिन्दी के विख्यात लेखकों ने भी अनुवाद का काम किया है! आर्थिक लाभ की आशा से लेखक और प्रकाशक पाठ्य पुस्तकों की ओर भी प्रवृत्त हुए हैं। हिन्दी के कितने ही लब्धप्रतिष्ठ लेखकों ने यह काम किया है। शिक्षा और साहित्य दोनों का अनुभव होने के कारण उसी आशा से मैं भी इस काम में लगा। पर अपनी ओर से अधिक-से-अधिक परिश्रम करके कम-से-कम पारिश्रमिक लेकर और प्रकाशकों को अधिक-से-अधिक लाभ पहुँचाकर भी, मैं उन्हें सन्तुष्ट न कर सका। बात यह है कि पाठ्य-पुस्तकों के प्रचलन में भी प्रकाशकों को लेखक की अपेक्षा किसी अन्य प्रभावशील व्यक्ति पर अधिक निर्भर रहना पड़ता है और उनके लिए उन्हें अन्य उपायों का सहारा लेना पड़ता है, जिसका सम्बन्ध न तो लेखक की योग्यता से रहता है और न पुस्तक की उत्तमता से।

साहित्य के क्षेत्र में सुकीर्ति अत्यन्त दुर्लभ है। पर सस्ती कीर्ति अत्यन्त सुलभ है। खुद ढोल पीटकर या दूसरों से नगाड़ा बजवाकर अपने सुनाम का प्रचार किया जा सकता है। हिन्दी में यह कार्य एक व्यवस्थित रूप से हो रहा है! पर उसका परिणाम

अच्छा नहीं हो सकता। हम अपने जीवन-काल में सस्ती कीर्ति पाकर अपने हृदय में क्षणिक गौरव का अनुभव भले ही कर लें, परन्तु उसका मूल्य उतना ही है जितना कि बड़े लोगों के प्रशंसा-पत्रों का। प्रशंसा-पत्रों को दिखलाकर या छपवाकर यदि हम अपनी योग्यता प्रमाणित करना चाहें तो वह हमारी हीनता ही है। जहाँ योग्यता का अभाव है वहीं लोग योग्यता का प्रमाण-पत्र पाने की चेष्टा करते हैं। साहित्य के क्षेत्र में अब भी हम ऐसे ही प्रमाण-पत्र पाने के लिए व्यग्र रहते हैं। अधिकांश समालोचनाएँ और प्रस्तावनाएँ प्रशंसा-पत्र-मात्र हैं। परन्तु काल की कालिमा हमारे उन सभी प्रशंसा-पत्रों और मान-पत्रों के स्वर्णाक्षरों को भी काले रङ्ग में रँग देती है, फिर हम लोग अन्त में अपने ही अस्पष्ट पत्रों को लेकर विस्मृति के अनन्त अन्धकारमय गर्त में लीन हो जाते हैं।

× × ×

जीवन के उषाकाल में किसे यह पृथ्वी मनोहर नहीं दिखाई देती? उस समय प्रकृति से हम लोगों का पूरा साहचर्य रहता है। सूर्य हमें जागृत करने के लिए आता है। मेघ हमारे लिए नव-सन्देश लाता है। नदियाँ हमें स्वतन्त्रता और उच्छृंखलता का पाठ सिखाती हैं, पवन हमें अस्थिर बनाती है, खगों का स्वतन्त्र विहार हमें संसार से खींचकर अनन्त पथ की ओर आकृष्ट करता है। उस समय हम भी बिना उद्देश्य घूमते-फिरते हैं, उछलते-कूदते हैं। संसार का वैभव तुच्छ प्रतीत होता है, समाज का बन्धन असह्य लगता है, विश्व के क्रिया-कलाप बिलकुल निस्सार जान पड़ते हैं। संसार एक कौतुकागार बना रहता है। जीवन एक विनोद रहता है और सर्वत्र आनन्द का स्रोत बना रहता है। परन्तु जीवन के मध्याह्न-काल में, जब हमें भव के उत्ताप का अनुभव होता है, तब घर की क्षुद्र सीमा में हम विश्राम लेते हैं। उस

समय अनन्त में व्योम-विहार करने की इच्छा हममें नहीं रह जाती। बाल्य-काल के सभी मनोरथ उपहास-जनक हो जाते। उस समय हम अपने लिए स्नेह की एक कुटी बनाकर उसी में व्यस्त हो जाते हैं। संसार और हमारे बीच में उस कुटी का क्षुद्र प्राचीर ही सबसे बड़ा व्यवधान बन जाता है। उस कुटी की रक्षा के लिए हम सदैव सावधान रहते हैं। प्रेम का स्थान सन्देह ले लेता है। ऐसा जान पड़ता है कि उस कुटी को तोड़ने के लिए मानो संसार षड्यन्त्र कर रहा है। तब जीवन विनोद नहीं रहता, संग्राम हो जाता है। अपने जीवन के सन्ध्या-काल में हम उसी कुटी में स्नेह का प्रदीप प्रज्वलित करके अन्त में महा निद्रा में मग्न हो जाते हैं। बाल्य-काल की क्रीड़ा, युवावस्था की उद्दाम वासना और प्रौढ़ावस्था की चिन्ता का अन्त मृत्यु में हो जाता है।

बाल्य-काल के साथी युवावस्था में नहीं रह जाते, और युवावस्था के सहचर प्रौढ़ावस्था में शत्रु बन जाते हैं। बाल्य-काल में निष्काम भाव विद्यमान रहता है, युवावस्था में उदार भाव रहते हैं, और वृद्धावस्था में मोह का प्राधान्य रहता है। मुझे यह देखकर बड़ा आश्चर्य होता है कि लोग वृद्धावस्था में ईश्वरोपासना में कैसे लीन हो जाते हैं, क्योंकि मेरी समझ में तो तब वे ईश्वर से बहुत दूर हट जाते हैं। कुछ भी हो, काल के कारण एक ओर अवस्थाओं में परिवर्तन होता रहता है और दूसरी ओर बाह्य-स्थितियों के आघात-प्रत्याघात से जीवन-धारा परिवर्तित होती रहती है। कितनी छोटी-छोटी बातों का कितना बड़ा प्रभाव मनुष्य के जीवन पर पड़ता है, यह जानकर विस्मय होता है। सब छोटी-छोटी घटनाएँ परस्पर ऐसी सम्बद्ध होती हैं कि जीवन एक लम्बी जञ्जीर के समान घटनाओं से गुँथा हुआ प्रतीत होता है। मेरे जीवन के व्यक्तिगत विकास में जिन लोगों का हाथ है, वे स्वयं नहीं जानते कि उन्हीं के कारण मेरे जीवन में कितना परिवर्तन

हो गया है। सच तो यह है कि हम लोगों के जीवन के विकास में बड़े लोगों का प्रभाव नहीं पड़ता और न उनके लिए महत्त्वपूर्ण कार्यों का कोई मूल्य है। नगण्य व्यक्तियों और तुच्छ कार्यों को लेकर ही कोई अज्ञात शक्ति हमारे जीवन को एक विशेष साँचे में ढाल देती है। तभी तो जीवन में इतना रूप-वैचित्र्य, भाव-वैचित्र्य और वर्ण-वैचित्र्य है।

कहा जाता है कि सत्य है नीरव, और कल्पना है मुखरा। सत्य का आघात सदैव असह्य होता है। सत्य के उज्ज्वल आलोक में जीवन का यथार्थ रूप प्रकट हो जाता है, क्योंकि तभी उसके सभी दोष स्पष्ट हो जाते हैं। इसीलिए कल्पना की ज्योत्स्ना में हम अपने दोषों को छिपाकर अपने जीवन में एक उज्ज्वलता का अनुभव करते हैं। सत्य के आलोक में मैं आदि से अन्त तक अपने जीवन में कहीं अच्छाई नहीं देख रहा हूँ। मैं नहीं जान सकता कि मैं अपनी किस विद्या, किस बुद्धि और किस कार्य का अभिमान धर्मराज के सामने कर सकूँगा।

पर यह सच है कि मैं भगवान् पर दृढ़ विश्वास रखता आया हूँ। सुख में और दुःख में मैंने सदैव उनका स्मरण किया है। दुर्वासनाओं के प्रचण्ड झकोरों में पड़कर भी मैंने उन्हें पुकारा है। मैंने पाप में भी उनका आह्वान किया है। दुःख और कष्ट में भी उनका नाम लिया है और अपने सभी कार्यों में उन्हें साक्षी बनाया है। कह नहीं सकता कि मृत्यु किस अवस्था में मुझे ले जायगी, पर अभी तो उनका नाम लेता ही हूँ।

२१

राष्ट्र-कवि मैथिलीशरण गुप्त

राष्ट्र-कवि मैथिलीशरण गुप्त हिन्दी के प्रतिष्ठित कवियों में अपना अन्यतम स्थान रखते हैं। राष्ट्रीय जागरण में आपकी कविताओं ने विशेष योग दिया था। आपकी 'भारत-भारती' किसी समय देश के कोने-कोने में 'गीता' के समान पढ़ी और पूजी जाती थी। 'साकेत,' 'यशोधरा' और 'जयद्रथ-वध' आदि काव्यों के रूप में आपने हिन्दी-कविता-साहित्य को अमूल्य निधि प्रदान की है। गान्धी जी के सत्य तथा अहिंसा आदि पुनीत सिद्धान्तों का सुन्दर समन्वय आपने अपनी रचनाओं में किया है। हिन्दी-कविता और साहित्य को समुन्नत करने में आपकी रचनाओं ने विशेष प्रेरणा प्रदान की है। आपकी भाषा सरल, भाव मधुर और जीवन अत्यन्त ही सात्विक है।

कविता के पथ पर

जब किसी जन को उसकी योग्यता से अधिक आदर मिलता है तब वह चाहे कितनी ही सदाशयता से क्यों न दिया गया हो, उसे स्वीकार करने में स्वभावतः सङ्कोच होता है। अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिए यदि मैं उपयुक्त शब्द ही पा सकता तो भी एक कवि के रूप में अपने सम्मान का कुछ अर्थ समझने का प्रयत्न करता। जैसा मैं पहले भी कई बार कह चुका हूँ कि विद्या-बुद्धि ने नहीं, आपबीती बातों ने ही मुझे मार-पीटकर कविराज बनने के लिए विवश किया है। इसे मैंने अपने एक गान अथवा रुदन में प्रकट भी किया है—

"मिले मुझे क्या-क्या संयोग।

मेरे प्रभु! चाहे मेरे ही,
कर्मों के न भोग।
वे प्रसंग, जो सभी जना दें,
ज्ञान-रत्न की खान खना दें।
कवि किंवा तत्त्वज्ञ बना दें,
और मिटा दें भव के रोग।
मिले मुझे क्या-क्या संयोग।

पर मैं था यह अज्ञ अभागा,
कभी न चेता, कभी न जागा।
तोड़ न सका मोह का धागा,
जोड़ न सका एक भी जोग।
मिले मुझे क्या-क्या संयोग।

बस अब यही सुमन्त्र जगाऊँ,
निज दुःखों से नेह लगाऊँ।
उनसे उनकी दृढ़ता पाऊँ,
सुख है, जहाँ समझते लोग।
मिले मुझे क्या-क्या संयोग।

जब अपने मास्टर, मौलवी और पण्डितों को निराश करके मैं जैसा-का तैसा लौट आया तब मुझे पौराणिक, इतिहासिक और काल्पनिक कथा-कहानियों, चारणों के गीत-कवित्तों और संस्कृत के सुभाषितों ने अपनी ओर आकर्षित किया। 'रामायण' पढ़कर यदि मैं गद्‌गद् हो उठता था। तो उसमें मेरे कुल-गत भक्ति के संस्कार भी थे, आत्मीयों के आक्षेप सहकर आल्हा पढ़ने में भी मुझे आनन्द आता था। 'आल्ह मनौवा' पर अब भी कुछ लिखने की इच्छा होती है। इधर-उधर की कविताओं में 'मतिराम' और 'पद्‌माकर' के नायिका-भेद और वर्तमान ब्रजभाषा के कवियों की समस्या-पूर्ति से कभी-कभी मनोविनोद कर लेता था। 'चन्द्र-कान्ता' उपन्यास का कहना ही क्या ? वह तो बहुत दिनों तक चर्चा का विषय रहा। 'हिन्दी बंगवासी' ने पहले-पहल देश-विदेश के समाचारों के लिए रुचि उत्पन्न की। बंग-भंग ने स्वदेशी और स्वदेश की भावना को अग्रसर किया।

तब भी कविता अधिकतर शृङ्गार और समस्या-पूर्तियों तक ही सीमित थी। कालाकाँकर के स्वर्गीय राजा रामपालसिंहजी प्रसिद्ध देश-भक्त थे और हिन्दी में उस समय भी एक दैनिक पत्र चलाते थे। वे कवि भी थे, उन्होंने एक बार एक समस्या दी थी—

"सूकर न खाया वृथा जन्म को गँवाया है।"

राजा साहब ने भी इसकी पूर्ति की थी उसके दो ही चरण मुझे स्मरण रह गए हैं—

"राम फलाहारन में सोंधी जेंवनारन में,
दूध में दही में कब ऐसो स्वाद पावा है।
मृग न सताया आज पच्छी न बनावा जिन,
सूकर न खावा वृथा जन्म को गँवावा है।।"

'श्रीवेङ्कटेश्वर-समाचार' के तत्कालीन सम्पादक पंडित लज्जाराम से इस पर उनका एक वाद-विवाद भी चला था। कह नहीं सकता, इसी घटना से अथवा और किसी कारण से समस्या-पूर्ति की ओर मुझे कभी उत्साह न हुआ। हाँ, मतिराम और पद्माकर के छन्दों से छन्दो-रचना के अभ्यास में अवश्य सहायता मिली।

खड़ी बोली तब तक वैसी लोकप्रियता नहीं पा सकी थी। पूज्य पंडित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी उसके प्रबल पक्षपाती थे। उन्होंने मुझे अपनाकर उत्साहित किया और 'सरस्वती' में मेरे पद्य छपने लगे।

मैंने ऊपर जो कथा-कहानी और गीत-कवित्त की ओर अपने आकर्षित होने की बात कही है उसका श्रेय अधिकांश में मेरे बाल्य-सहचर स्वर्गीय मुन्शी अजमेरी जी को है। मैंने जीवन में जितना रस उनसे पाया है उसका प्रतिदान नहीं। वे मुसलमान वैष्णव थे और भारतेन्दु की यह उक्ति उन पर पूर्णतया चरितार्थ होती थी—

"इन मुसलमान हरिजनन पर
कोटिन हिन्दू वारिये।"

उनकी लिपि बड़ी सुन्दर होती थी और मेरे पद्यों की 'प्रेस-कापी' वे ही प्रस्तुत करते थे। कभी-कभी संशोधन-कार्य में भी मुझे उनसे सहायता मिलती थी। कुछ दिन तक 'सरस्वती' में एक-आध चित्र पर परिचय के रूप में मेरे पद्य छपा करते थे। एक बार 'अशोक-वन-वासिनी सीता' नाम के एक चित्र पर मैंने

कुछ दोहे लिखे थे। पहला दोहा इस प्रकार था—

'जिनके माया-सूत्र में ग्रथित सकल संसार।
उन्हीं की ये जनकजा दशमुख के आगार॥'

अजमेरीजी ने इसमें 'दशमुख के आगार' के स्थान पर 'दशमुख-कारागार' संशोधन बताया। मुझे यह बहुत अच्छा और मैंने पूज्य द्विवेदीजी को भी लिख भेजा। उन्होंने उत्तर में लिखा—'कवियों के सहचर कभी-कभी कवियों से भी बढ़ जाते हैं।' धीरे-धीरे खड़ी बोली लोगों को रुचने लगी और दिन-दिन प्रचार होने लगा, तथापि माँज-घिसकर स्निग्धता उसमें अब आई है, जब अन्यान्य योग्य कवियों ने पीछे से उसमें अपनी भावपूर्ण कविताएँ लिखीं। वस्तुतः किसी नई वस्तु को देखकर आरम्भ में हम उस पर आकर्षित नहीं होते। कान जैसा सुनते आते हैं वैसा ही उन्हें रुचता है। प्रसिद्ध बंगीय कवि माइकेल मधुसूदन दत्त ने जब अतुकान्त छन्द में अपना 'मेघनाद-वध' महाकाव्य लिखा तब लोगों ने उनसे उसके छन्द के विषय में पूछ-ताछ की। उन्होंने कहा इसमें बताने की कोई बात ही नहीं। इसकी बार-बार आवृत्ति करो, जब तुम्हारे कान संस्कृत हो जायँगे तब तुम जानोगे कि अमित्राक्षर क्या वस्तु है? जो हो, मुझे सन्तोष है, खड़ी बोली के जिस रिक्त-प्रायः क्षेत्र में मैंने प्रवेश किया था आज वह हमारे प्रसन्न गम्भीर-पदा सरस्वती वाले कविजनों के प्रभाव से इतना हरा-भरा दिखाई देता है। फिर भी भारती का भण्डार अक्षय है और हम सदैव उससे पीते-खाते रहेंगे।

पूज्य द्विवेदीजी चाहते थे कि 'सरस्वती' के लेखक अधिकतर 'सरस्वती' में ही लिखा करें। परन्तु उन दिनों हिन्दी के लेखक थोड़े ही थे, मेरे-जैसे साधारण लेखक को भी अन्यान्य सम्पादक कभी-कभी पत्रों में कुछ लिखने के लिए पत्र भेजते थे।

उन्हीं दिनों 'अभ्युदय प्रेस' से स्वर्गीय पण्डित कृष्णकान्त

मालवीय ने 'मर्यादा' नाम की एक मासिक पत्रिका निकाली थी। उन्होंने कृपापूर्वक मुझे कई बार उसमें कुछ लिखनेका आदेश दिया। डरते-डरते एक बार मैंने पूज्य द्विवेदीजी से आज्ञा माँगी। आज्ञा मिल गई और 'पूर्व-दर्शन' नाम से वे पद्य मर्यादामें प्रकाशित भी होगए। उन्हीं पद्यों की नींव पर 'भारत-भारती'का निर्माण हुआ।

कविता की दृष्टि से 'जयद्रथ-वध' लिखकर 'भारत-भारती' लिखना भले ही आगे बढ़ कर पीछे लौटना कहा जाय, मुझे इसके लिए कभी पछताना नहीं पड़ा। यह तो मैं नहीं कह सकता कि वह कितनी उपयोगी सिद्ध हुई, परन्तु यह यथार्थ है कि जनता ने आशा से अधिक उसे अपनाकर मुझे अनुगृहीत किया। मान लीजिए, वह कल की वस्तु थी, और आज बासी हो गई। मैं यह भी मानता हूँ, साधारण रोटी, पक्वान्न की भाँति स्थिर नहीं रह सकती। परन्तु एक बार की भूख शान्त करके ही क्या वह कृतकृत्य नहीं हो जाती और पक्वान्न भी कल नहीं तो परसों भी क्या बासी नहीं पड़ जाते?

कवित्वपूर्ण रचनाओं के सम्बन्ध में भी मैंने देखा है, लोगों की रुचि ही प्रधान है। इसलिए तो हम कविता की एक नहीं, अनेक परिभाषाएँ पाते हैं। रुचि-भिन्नता के कारण कोई एक कृति सर्वत्र एक ही दृष्टि से नहीं देखी जा सकती। इसलिए 'स्वान्तः सुखाय' वाली बात ही कला के लिए उपयुक्त जान पड़ती है।

कथा-साहित्य के वातावरण में पलने के कारण अधिकतर उसी ओर मेरी रुचि और प्रवृत्ति रही है। हमारे वर्तमान काल के अनेक प्रसिद्ध कवि, जिनका हमें गर्व है, अपने ही बल पर खड़े हैं, जब मैं बहुधा छोटी-छोटी रचनाओं में भी एक सत्य किंवा कल्पित कथा का अवलम्ब लेकर चलता हूँ (यही मेरी त्रुटि और विशेषता कही जा सकती है।) तब स्वच्छन्दता से कल्पना के आकाश में उड़ने को समर्थ होता हूँ। जब मुझे इस धरती पर ही

किसी वन या उपवन में घूमने की गति से ही सन्तोष करना पड़ता है तब वे आपको नये-नये दृश्य दिखाने में समर्थ होती हैं। मैं तो यही प्रयत्न करके रह जाता हूँ कि प्राचीन को ही कुछ नवीन रूप में आपके सम्मुख उपस्थित कर सकूँ। बिना ईर्ष्या किये मैं अपनी त्रुटि को स्वीकार करता हूँ।

विशेषता इस बात में है कि यदि मैं कथा का आश्रय लेता हूँ तो वह मुझे उदारतापूर्वक मनचाहा दे देती है। फिर भी 'साकेत' में यदि कुछ विशेषता है तो उसका श्रेय राम-चरित को ही दिया जा सकता है—

"राम, तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है।
कोई कवि बन जाय सहज संभाव्य है॥"

इसी प्रकार 'यशोधरा' ने यदि मुझे कुछ यश दिया है तो यह उसी देवी ने जिसने मेरे हृदय में आविर्भूत होकर मुझसे यह लिखा दिया है कि—

"अबला-जीवन, हाय तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी॥"

आपकी धैर्य-च्युति न हो तो इस सम्बन्ध में दो-एक उदाहरण और उपस्थित करने की आज्ञा चाहता हूँ।

उन दिनों श्रीमती एनी बेसेण्ट के होमरूल-आन्दोलन की धूम थी। मैं बनारस गया था। एक दिन काशी-क्लब में वहाँ के कुछ प्रमुख नागरिक उपस्थित थे, उस समय एक सज्जन ने आकर कहा—किसी उर्दू कवि ने मालवीयजी पर आक्षेप करते हुए एक शेर कहा है जिसका अभी तक कोई उत्तर नहीं दिया गया। शेर यह था—

"कहते हैं मालवीजी हम होमरूल लेंगे।
दीवाने हो गए हैं गूलर का फूल लेंगे॥"

लोगों ने कहा कि दो ही पंक्तियों में इसका उत्तर दिया जाय

नव है। श्री रायकृष्णदासजी ने मुसकराकर मेरी ओर देखा। उसी समय सहसा मुझे अमरीका के बरबैंक नामक वैज्ञानिक का स्मरण आगया, जिन्होंने वनस्पति-जगत् में चमत्कारपूर्ण बातें कर दिखाई हैं। जैसे काँटों वाले पौधों को निष्कंटक कर दिया और फल-हीन वृक्षों में नये फल उत्पन्न किये हैं। मैंने उनका आश्रय लेकर दो पंक्तियाँ बनाकर सुना दीं—

"जब होसफल होगा, बरबैंक जन्म लेंगे।
हाँ-हाँ, जनाब तब तो गूलर भी फूल देंगे॥"

सुनकर लोग प्रसन्न हुए। परन्तु वास्तव में वाह-वाह के अधिकारी तो बरबैंक साहब ही थे।

इसी प्रकार जब गांधीजी ने जवाहरलाल जी के माथे पर काँटों का किरीट रखा तब मुझे जिज्ञासा हुई, यह कौन सा किरीट है? पूछ-ताछ करने से विदित हुआ, यह वह मुकुट है जो शूलीके समय प्रभु ईसा को पहनाया गया था। इसी मुकुट ने आगे चल-कर मुझसे निम्न गीत की रचना करा ली—

"चुन लो चला हमारे फूल।
माली छोड़ दिये क्यों तूने ये कण्टक, ये शूल?
माना तू मृदुलस्पर्शी है,
फिर भी हाय! विषम दर्शी है,
तो फूलों का, नहीं यही क्या काँटों का भी मूल!
तू जिसका वेतन भोगी है,
वह भी रागी है, रोगी है,
उड़े न उसके हाथों में यह अभागियों की धूल!
जा, फिर भी तू सफल मनोरथ,
हमें देखने दे उसका पथ,
पहनेगा कण्टक-किरीट जो अमृत-पुत्र अनुकूल!"

मेरे कहने का आशय यह है कि मेरी रचनाओं में यदि कुछ

विशेषता है तो वह दूसरों के ही आश्रय से आई है। केवल एक छोटी-सी बात ही ऐसी है जिसे आप लोगों ने अपनी उदारता से बड़ा मानकर मुझे अपना अनुग्रह-भाजन बना लिया है। काका कालेलकरजी के कुछ प्रश्नों का उत्तर देते हुए मैंने कहा था—"मैं किसी भी ऐश्वर्यपूर्ण युग में क्यों न प्रवेश करूँ, अपना समय सदैव मेरे सामने रहा है। चाहे वह युग 'साकेत' का हो चाहे 'द्वापर' का अथवा बुद्ध भगवान् की 'यशोधरा' देवी का। मेरी बुद्धि सदैव मुझसे कहती रही है—

"मैं सुनती हूँ, वह दूर देश है सपना।
तुम उसे देखकर भूल न जाना अपना॥"

इस प्रसङ्ग पर एक बात और दुहराता हूँ, (भले ही वह मेरे राष्ट्रकवित्व के प्रतिकूल हो। यदि आज मैं 'भारत-भारती'—जैसी कोई पुस्तक लिखने बैठूँ तो उसका दूसरा ही रूप होगा। मैंने 'भारत-भारती' में लिखा है—

"था हिन्दुओं का शिष्य ईसा यह पता भी है चला।
ईसाइयों का धर्म बहुधा बौद्ध साँचे में ढला॥"

इसके आगे 'हिन्दू' नामक निबन्ध में यही बात मैंने इस प्रकार कही है—

"ईसा महापुरुष हैं मान्य,
क्षमा-मूर्ति व्रत-वीर, वदान्य।
धर्म विषय में वही सुपात्र,
हैं इस भारत के ही छात्र।"

परन्तु आज से कुछ दिन पहले यही बात मैंने फिर इस प्रकार कही है—

"धन्य धन्य हम जिनके कारण,
लिया आप प्रभु ने अवतार।

किन्तु त्रिबार धन्य वे जिनको,
दिया एक प्रिय पुत्र उदार ।"

यदि यह मेरा क्रम-विकास नहीं तो इसके लिए भी मुझे कोई पछतावा न होगा ।

जो हो, निश्छल भाव से आप लोगों के समक्ष मैं यह स्वीकार करता हूँ कि लोगों ने जितना मुझसे पाया है उससे अधिक मुझे दिया है । यही मेरे संकोच का कारण है ।

अन्त में फिर एक बार उसी पद्य को दुहराना चाहता जिसे मैंने अपनी ५० वीं वर्षगाँठ पर लिखा था—

"अनुगृहीत हूँ, यद्यपि अब भी,
कठिन पंथ करना है पार ।
दिन ढल गया न दौड़ गिरूँ मैं,
रहे आप सबका आभार ॥
यह सुयोग दुर्लभ पर सुनिये,
निज भविष्य है अधिक उदार ।
जो पीछे आ रहे उन्हीं का,
मैं आगे का जय-जयकार ।"

१२

श्री सुमित्रानन्दन पन्त

श्री पन्त जी आधुनिक हिन्दी-कविता के समर्थ सूत्रधार हैं। द्विवेदी-युग में प्रचलित राष्ट्रीय धारा की ऊबड़-खाबड़ भूमि से निकालकर आपने ही कविता-बाला को छायावाद की समतल और सुरम्य भूमि पर अधिष्ठित किया था। पन्त जी अपनी कोमल-कान्त पदावली और सहज उर्वर कल्पना के लिए चिर-विख्यात हैं। यह आपके कृतित्व और प्रतिभा का ही ज्वलन्त प्रमाण है कि आज हिन्दी-कविता नये उपमानों और अलंकारों से सुसज्जित है। 'ग्रन्थि' के बाद 'पल्लव', 'वीणा' और गुञ्जन' में आपकी ऐसी ही रचनाएँ संग्रहीत हैं। 'ग्राम्या' से आपकी प्रगतिशीलता का परिचय मिलता है। 'स्वर्ण-किरण', 'स्वर्ण-धूलि' और 'मधु-ज्वाल' में आपके नवीन प्रयोग और भी सक्षम प्रतीकों के रूप में प्रकट हुए हैं।

मेरा रचना काल

मेरे कवि-जीवन के विकास-क्रम को समझने लिए पहले आप मेरे साथ हिमालय की प्यारी तलहटी में चलिए। आपने अल्मोड़े का नाम सुना होगा। वहाँ से बत्तीस मील और उत्तर की ओर चलने पर आप मेरी जन्म-भूमि 'कौसानी' में पहुँच गए। वह जैसे प्रकृति का शृङ्गार-गृह है, जहाँ कूर्माचल की पर्वत-श्री एकान्त में बैठकर अपना पल-पल परिवर्तित साज सँवारती है। आज से तेतालीस साल पहले की बात कहता हूँ। तब मैं छोटा-सा चंचल भावुक किशोर था। मेरा काव्य-कंठ तक तक फूटा नहीं था। पर प्रकृति मुझ मातृ-हीन बालक को कवि-जीवन के लिए मेरे बिना जाने ही जैसे तैयार करने लगी थी। मेरे हृदय में वह अपनी मीठी, स्वप्नों से भरी हुई चुप्पी अंकित कर चुकी थी जो पीछे मेरे भीतर अस्फुट तुतले स्वरों में बज उठी। पहाड़ी पेड़ों का क्षितिजन जाने कितने ही गहरे-हल्के रंगों के फूलों और कोंपलों में मर्मर कर मेरे भीतर अपनी सुन्दरता की रंगीन सुगंधित तहें जमा चुका था।

'मधुबाला की मृदुबोली-सी' अपनी उस हृदय की गुञ्जार को मैंने अपने 'वीणा' नामक संग्रह में 'यह तो तुतली बोली में है, एक बालिका का उपहार!' कहा है। पर्वत-प्रदेश के निर्मल चंचल सौंदर्य ने मेरे जीवन के चारों ओर अपने नीरव सौंदर्य का जाल बुनना शुरू कर दिया था। मेरे मन के भीतर बरफ की ऊँची चमकीली चोटियाँ रहस्य-भरे शिखरों की तरह उठने लगी थीं, जिन पर खड़ा हुआ नीला आकाश रेशमी चंदोवे की तरह

आँखों के सामने फहराया करता था। कितने ही इन्द्रधनुष मेरे कल्पना के पट पर रंगीन रेखाएँ खींच चुके थे, बिजलियाँ बचपन की आँखों को चकाचौंध कर चुकी थीं, फेनों के झरने मेरे मन को फुसलाकर अपने साथ गाने के लिए बहा ले जाते और सर्वोपरि हिमालय का आकाश-चुम्बी सौंदर्य मेरे हृदय पर एक महान् संदेश की तरह, एक स्वर्गोन्मुखी आदर्श की तरह तथा एक विराट् व्यापक आनन्द, सौंदर्य तथा तपःपूत पवित्रता की तरह प्रतिष्ठित हो चुका था।

मैं लुटपन से ही अत्यन्त जन-भीरु और शरमीला था। उधर हिम-प्रदेश की प्राकृतिक सुन्दरता मुझ पर अपना जादू चला चुकी थी, इधर घर में मुझे 'मेघदूत', 'शकुंतला' और 'सरस्वती' मासिक-पत्रिका में प्रकाशित रचनाओं का मधुर पाठ सुनने को मिलता था जो मेरे मन में भरे हुए अवाक् सौंदर्य को जैसे वाणी की झंकारों में झनझना उठने के लिए अज्ञात रूप से प्रेरणा देता था। मेरे बड़े भाई साहित्य और काव्य के अनुरागी थे। वे खड़ी बोली में और पहाड़ी में प्रायः कविता भी लिखते थे। मेरे मन में तभी से लिखने की ओर आकर्षण पैदा हो गया था, और मेरे प्रारम्भिक प्रयास भी शुरू हो गए थे, जिन्हें मुझे किसी को दिखाने का साहस नहीं होता था। तब मैं दस-ग्यारह साल का रहा हूँगा। उसके बाद अल्मोड़ा-हाईस्कूल में पढ़ने चला गया। अल्मोड़ा में उन दिनों जैसे हिन्दी की बाढ़ आ गई थी, एक पुस्तकालय की भी स्थापना वहाँ हो चुकी थी और अन्य नवयुवकों के साथ मैं भी उस बाढ़ में बह गया। पन्द्रह-सोलह साल की उम्र में मैंने एक प्रकार से नियमित रूप से लिखना आरम्भ कर दिया था। मैं तब आठवीं कक्षा में था। हिन्दी-साहित्य में तब जो-कुछ भी सुलभ था उसे मैं बड़े चाव से पढ़ता था। मध्य-युग के काव्य-साहित्य का भी थोड़ा-बहुत

अध्ययन कर चुका था। श्री मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती', 'जयद्रथ-वध', 'रंग में भंग' आदि रचनाओं से प्रभावित होकर मैं हिन्दी के प्रचलित छन्दों की साधना में तल्लीन रहता था। उस समय के मेरे चपल प्रयास कुछ हस्तलिखित पत्रों में, 'अल्मोड़ा-अखबार' नामक साप्ताहिक में तथा मासिक-पत्रिका 'मर्यादा' में प्रकाशित हुए थे। इन तीन वर्षों की रचनाओं को मैं प्रयोग-काल की रचनाएँ कहूँगा।

सन् १६१८ से २० तक की अधिकांश रचनाएँ मेरे 'वीणा' नामक काव्य-संग्रह में छपी हैं। वीणा-काल में मैंने प्रकृति की छोटी-मोटी वस्तुओं को अपनी कल्पना की तूली से रँगकर काव्य की सामग्री इकट्ठी की है। फूल-पत्ते और चिड़ियाँ, बादल-इन्द्र-धनुष, ओस-तारे, नदी-झरने, ऊषा-सन्ध्या, कलरव - मर्मर और टलमल जैसे गुड़ियों और खिलौनों की तरह मेरी बाल-कल्पना की पिटारी को सजाये हुए हैं।

"छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले, तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ?"

—इत्यादि सरल भावनाओं को बखेरती हुई मेरी काव्य-कल्पना जैसे अपनी समवयस्का बाल-प्रकृति के गले में बाँहें डाले प्राकृतिक सौंदर्य के छाया-पथ में विहार कर रही है।

"उस फैली हरियाली में
कौन अकेली खेल रही माँ
सजा हृदय की थाली
क्रीड़ा कौतूहल कोमलता
मोद मधुरिमा हास-विलास
लीला विस्मय अस्फुटता भय
स्नेह पुलक सुख सरल हुलास !"

इन पंक्तियों में चित्रित प्रकृति का रूप ही तब मेरे हृदय को लुभाता रहा है। उस समय का मेरा सौंदर्य-ज्ञान ओसों के उस हँसमुख वन-सा था जिस पर स्वच्छ निर्मल स्वप्नों से भरी चाँदनी चुपचाप सोई हुई हो। उस शीतल वन में जैसे अभी प्रभात की सुनहली ज्वाला प्रवेश नहीं कर पाई थी। स्निग्ध, सुन्दर, मधुर प्रकृति की गोद माँ की तरह मेरे किशोर-जीवन का पालन एवं परिचालन करती थी। 'वीणा' के कई प्रगीत माँ को संबोधन करके लिखे गए हैं।

"माँ, मेरे जीवन की हार,

तेरा उज्ज्वल हृदय-हार हो अश्रु-कणों का यह उपहार"

— आदि 'वीणा'-काल की रचनाओं में प्रकृति-प्रेम के अलावा मेरे भीतर एक उज्ज्वल आदर्श की भावना भी जाग्रत हो चुकी थी। 'वीणा' के कई प्रगीतों में मैंने अपने मन के इन्हीं उच्छ्वासों एवं उद्गारों को भरकर स्वर-साधना की है।

मेरा अध्ययन-प्रेम धीरे-धीरे बढ़ने लगा था। श्रीमती नायडू और रवींद्रनाथ ठाकुर की अँग्रेजी रचनाओं में मुझे अपने हृदय में छिपे सौंदर्य और रुचि की अधिक मार्जित प्रतिध्वनि मिलती थी। यह सन् १९१९ की बात है, मैं तब बनारस में था। मैंने रवींद्र-साहित्य बंगला में भी पढ़ना शुरू कर दिया था। 'रघुवंश' के कुछ सर्ग भी देख चुका था। 'रघुवंश' के उस विशाल स्फटिक-प्रासाद के झरोखों और लोचन-कुवलयित गवाक्षों से मुझे रघु के वंशजों के वर्णन के रूप में कालिदास की उदात्त कल्पना की सुन्दर झाँकी मिलने लगी थी। मैं तब भावना के सूत्र में शब्दों की गुरियों को अधिक कुशलता से पिरोना सीख रहा था। इन्हीं दिनों मैंने 'ग्रन्थि' नामक वियोगान्त खंड-काव्य लिखा था। 'ग्रन्थि' के कथानक को दुःखान्त बनाने की प्रेरणा देकर जैसे विधाता ने उस युवावस्था के आरम्भ में ही मेरे जीवन के बारे

में भविष्य-वाणी कर दी थी।

'वीणा' में प्रकाशित 'प्रथम रश्मि का आना रंगिणि' नामक कविता ने काव्य-साधना की दृष्टि से नवीन प्रभात की किरण की तरह प्रवेश करके मेरे भीतर 'पल्लव'-काल के काव्य-जीवन का समारंभ कर दिया था। १९१९ की जुलाई में मैं कालेज में पढ़ने के लिए प्रयाग आया, तब से करीब दस साल तक प्रयाग ही में रहा। यहाँ मेरा काव्य-सम्बन्धी ज्ञान धीरे-धीरे व्यापक होने लगा। शेली, कीट्स, टेनिसन आदि अंग्रेजी कवियों से मैंने बहुत-कुछ सीखा। मेरे मन में शब्द-चयन और ध्वनि-सौंदर्य का बोध पैदा हुआ। 'पल्लव'-काल की प्रमुख रचनाओं का प्रारंभ इसके बाद ही होता है। प्रकृति-सौंदर्य और प्रकृति-प्रेम की अभिव्यंजना 'पल्लव' में अधिक प्रांजल एवं परिपक्व रूप में हुई है। 'वीणा' की रहस्य-प्रिय बालिका अधिक मांसल, सुरुचि, सुरंगपूर्ण बनकर प्राय: मुग्धा युवती का हृदय पाकर जीवन के प्रति अधिक संवेदनशील बन गई है। 'सोने का गान', 'निर्झर गान', 'मधुकरी', 'निर्झरी', 'विश्व-वेणु', 'वीचि-विलास' आदि रचनाओं में वह प्रकृति के रंग-जगत् में अभिनय करती-सी दिखाई देती है। अब उसे तुहिन-वन में छिपी स्वर्ण-ज्वाल का आभास मिलने लगा है, उषा की मुसकान कनक-मदिर लगने लगी है। वह अब इस रहस्य को नहीं छिपाना चाहती कि उसके हृदय में कोमल बाण लग गया है। निर्झरी का अंचल अब आँसुओं से गीला जान पड़ता है, उसकी कल-कल ध्वनि उसे मूक व्यथा का मुखर भुलावा प्रतीत होती है। वह मधुकरी के साथ फूलों के कटोरों से मधु-पान करने को व्याकुल है। सरोवर की चंचल लहरें उससे आँख-मिचौनी खेलकर उसके आकुल हृदय को दिव्य प्रेरणा से आश्वासन देने लगी हैं। वह उससे कहती है—

"मुग्धा की-सी मृदु मुस्कान,
खिलते ही लज्जा से म्लान,
स्वर्गिक सुख-की-सी आभास
अतिशयता में अचिर महान।
दिव्य भूति-सी आ तुम पास
कर जाती हो क्षणिक विलास
आकुल उर को दे आश्वास !"

सन् १९२१ के असहयोग आन्दोलन में मैंने कालेज छोड़ दिया। इन दो-एक वर्षों के साहित्यिक प्रवास में ही मेरे मन ने किसी तरह जान लिया था कि मेरे जीवन का विधाता ने कविता के साथ ही ग्रन्थि-बन्धन जोड़ना निश्चय किया है। 'वीणा' में मैंने ठीक ही कहा था—

"श्रेयसि कविते, हे निरुपमिते,
अधरामृत से इन निर्जीवित शब्दों में जीवन लाओ !"

बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओं और प्रासादों से लेकर छोटी-छोटी झाड़-फूँस की कुटियों से आकीर्ण इस जगत् में मुझे रहने के लिए मन का एकांत छाया-वन मिला, जिसमें वास्तविक विश्व की हलचल चित्रपट की तरह दृश्य बदलती हुई मेरे जीवन को अज्ञात आवेगों से झकझोरती रही है। इसके बाद का मेरा जीवन अध्ययन, मनन और चिंतन ही में अधिक व्यतीत हुआ। १९२१ में मैंने 'उच्छ्वास' नामक प्रेम-काव्य लिखा, और उसके बाद ही 'आँसू' ! मेरे तरुण हृदय का पहला ही आवेश प्रेम का प्रथम स्पर्श पाकर जैसे उच्छ्वास और आँसू बनकर उड़ गया। उच्छ्वास के सहस्र दृग-सुमन खोले हुए पर्वत की तरह मेरा भावी जीवन भी जैसे स्वप्नों और भावनाओं के घने कुहासे से ढँककर अपने ही भीतर छिप गया।

"उड़ गया अचानक लो भूधर

फड़का अपार वारिद के पर
अवशेष रह गए हैं निर्भर,
लो टूट पड़ा भू पर अम्बर !
धँस गए धरा में सभय शाल
उठ रहा धुआँ जल गया ताल,
यों जलद यान में विचर-विचर, था इन्द्र खेलता इन्द्र-जाल !"

इसी भूधर की तरह वास्तविकता की ऊँची-ऊँची प्राचीरों से घिरा हुआ यह सामाजिक जगत्, जो मेरे यौवन-सुलभ आशा-आकांक्षाओं से भरे हुए हृदय को, अनन्त विचारों, मतांतरों, रूढ़ियों, रीतियों की भूल-भूलैयाँ-सा लगता था, जैसे मेरी आँखों के सामने से ओझल हो गया। और यौवन के आवेशों से उठ रहे वाष्पों के ऊपर मेरे हृदय में जैसे एक नवीन अंतरिक्ष उदय होने लगा।

'पल्लव' की छोटी-बड़ी अनेक रचनाओं में जीवन के और युग के कई स्तरों को छूती हुई, भावनाओं की सीढ़ियाँ चढ़ती हुई, तथा प्राकृतिक सौंदर्य की झांकियाँ दिखाती हुई मेरी कल्पना 'परिवर्तन' शीर्षक कविता में मेरे उस काल के हृदय-मंथन और बौद्धिक संघर्ष की विशाल दर्पण-सी है जिसमें 'पल्लव'-युग का मेरा मानसिक विकास एवं जीवन की संग्रहणीय अनुभूतियां तथा राग-विराग का समन्वय बिजलियों से भरे बादल की तरह प्रतिबिंबित है। इस अनित्य जगत् में नित्य जगत् को खोजने का प्रयत्न मेरे जीवन में जैसे 'परिवर्तन' के रचना-काल से प्रारंभ हो गया था, 'परिवर्तन' उस अनुसंधान का केवल प्रतीक-मात्र है। हृदय-मंथन का दूसरा मुख आप आगे चलकर 'गुञ्जन' और 'ज्योत्स्ना'-काल की रचनाओं में पायेंगे।

मैं प्रारम्भ में आपको ४० साल पीछे ले गया हूँ और प्राकृतिक सौंदर्य की जुगनुओं से जगमगाती हुई घाटी में घुमाकर धीरे-

धीरे कम कोलाहल से भरे संसार की ओर ले आया हूँ। 'परिवर्तन' की अंतिम कुछ पंक्तियों में जैसे इन चालीस वर्षों का इतिहास आ गया है—

'अहे महांबुधि, लहरों के शतलोक चराचर
क्रीड़ा करते सतत तुम्हारे स्फीत वक्ष पर!
तुंग तरंगों से शत-युग शत-शत कल्पांतर
उगल महोदर में विलीन करते तुम सत्वर!'

मेरा जन्म सन् १९०० में हुआ है, और १९४७ में मैं जैसे इस संक्रमणशील युग के प्रायः अर्द्ध-शताब्दी के उत्थान-पतनों को देख चुका हूँ। अपना देश इन वर्षों में स्वतंत्रता के अदम्य संग्राम से आन्दोलित रहा। उसके मनोजगत् को हिलाती हुई नवीन जागरण की उद्दाम आँधी जैसे—

"द्रुत झरो जगत् के जीर्ण पत्र, हे त्रस्त ध्वस्त, हे शुष्कशीर्ण,
हिमतापपीत मधुवात भीत तुम वीतराग जड़ पुराचीन।"

का संदेश बखेरती रही है। दुनिया इन वर्षों में दो महायुद्ध देख चुकी है।

"बहा नर शोणित मूसल धार
रुंडमुण्डों की कर बौछार,
छेड़ खर शस्त्रों की झंकार
महाभारत गाता संसार!—"

'परिवर्तन' की इन पंक्तियों में जैसे इन्हीं वर्षों के इतिहास का दिग्चाप भरा हुआ है। मनुष्य-जाति की चेतना इन वर्षों में कितने ही परिवर्तनों और हाहाकारों से होकर विकसित हो गई है। कितनी ही प्रतिक्रियात्मक शक्तियाँ धरती के जीर्ण-जर्जर जीवन के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए बिलों में छेड़े हुए साँपों की तरह फन उठाकर फूत्कार कर रही हैं।

यह सब इस युग में क्यों हुआ? मानव-जाति प्रलय वेग

से किस ओर जा रही है ? मानव-सभ्यता का क्या होगा ? इन भिन्न-भिन्न जातियों, वर्गों, देशों, राष्ट्रों के स्वार्थों में खोये हुए धरती के जीवन का भावी निर्माण किस दिशा को होना चाहिए—इन प्रश्नों और शंकाओं का समाधान मैंने 'ज्योत्स्ना' नामक नाटिका द्वारा करने का प्रयत्न किया है। 'ज्योत्स्ना' में वेदव्रत कहता है : 'जिस प्रकार पूर्व की सभ्यता अपने एकांगी आत्मवाद और अध्यात्मवाद के दुष्परिणामों से नष्ट हुई उसी प्रकार पश्चिम की सभ्यता भी अपने एकांगी प्रकृतिवाद, विकासवाद और भूतवाद के दुष्परिणाम से विनाश की दलदल में डूब गई। पश्चिम के जड़वाद की मांसल प्रतिमा में पूर्व के अध्यात्म प्रकाश की आत्मा भरकर एवं अध्यात्मवाद के अस्थि-पंजर में भूत या जड़-विज्ञान के रूप-रंगों को भरकर हमने आने वाले युग की मूर्ति का निर्माण किया है।'

'ज्योत्स्ना' में मैंने जिस सत्य को सार्वभौमिक दृष्टिकोण से दिखाने का प्रयत्न किया है 'गुञ्जन' में उसी को व्यक्तिगत दृष्टिकोण से कहा है। 'गुञ्जन' के प्रगीत मेरी व्यक्तिगत साधना से संबद्ध हैं। 'गुञ्जन' की 'अप्सरी' में 'ज्योत्स्ना' की ही भावनाधारा को व्यक्तित्व दे दिया है। कला की दृष्टि से 'गुञ्जन' की शैली 'पल्लव' की तरह मांसल, एवं ऐंद्रयिक रूप-रंगों से भरी हुई नहीं है; उसकी व्यंजना अधिक सूक्ष्म, मधुर तथा भाव-प्रवण है। उसमें 'पल्लव' का-सा कल्पना-वैचित्र्य नहीं है पर भावों की सचाई और चिंतन की गहराई है।

'गुञ्जन' काल के इन अनेक वर्षों के ऊहापोह, संघर्ष और संधि पराभव के बाद आप मुझे 'युगांत' के कवि रूप में देखते हैं। 'युगान्त' के मरु में मेरे मानसिक निष्कर्षों के धुँधले पद-चिह्न पड़े हुए हैं। वही चिन्तन के भार से डगमगाते हुए पैर जैसे 'पाँच कहानियों' की पगडंडियों में भटक गए हैं।

'युगांत' में मैं निश्चय रूप से इस परिणाम पर पहुँच गया था कि मानव-सभ्यता का पिछला युग अब समाप्त होने को है और नवीन युग का प्रादुर्भाव अवश्यम्भावी है। मैंने जिन प्रेरणाओं से प्रभावित होकर यह कहा था उसका आभास 'ज्योत्स्ना' में पहले ही दे चुका था। अपने मानसिक चिन्तन और बौद्धिक परिणामों के आधारों का समन्वय मैंने 'युगवाणी' के युग-दर्शन में किया है। युग-दर्शन में मैंने भौतिकवाद या मार्क्सवाद के सिद्धान्तों का जहाँ समर्थन किया है वहाँ उनका अध्यात्मवाद के साथ समन्वय एवं संश्लेषण भी करने का प्रयत्न किया है। भौतिकवाद के प्रति -जो कि मानव-जीवन की बहिर्गतियों का वैज्ञानिक निरूपण है- अपने वयोवृद्ध विचारकों में जो विरक्ति अथवा उपेक्षा पाई जाती है उसे मैंने दूर करने का प्रयत्न किया है। और अध्यात्म-दर्शन के बारे में जो नवशिक्षित युवकों में भ्रान्त धारणाएँ फैली हैं उन पर भी प्रकाश डाला है। मैंने 'युगवाणी' में मध्य युग की संकीर्ण नैतिकता का घोर खंडन किया है। और जनता के मन में जो अंध-विश्वास और मृत आदर्शों के प्रति मोह घर किये है उसे छुड़ाने का प्रयत्न करके उन्हें नवीन जागरण का संदेश दिया है। संक्षेप में 'युगान्त' के बाद की रचनाओं में मैंने इस बात पर जोर दिया है कि—जिस प्रकार हमें अपने राजनीतिक आर्थिक स्तरों का नवीन रूप से युग-परिस्थितियों के अनुरूप संगठन करना है उसी प्रकार हमें अपने अंतर्जीवन का, अपनी सांस्कृतिक चेतना का भी, मध्य युगों की विकृतियों से छुड़ाकर, पुनरुद्धार करना है। मार्क्सवाद और अध्यात्मवाद का विवेचन मैं 'आधुनिक कवि' की भूमिका में विस्तारपूर्वक कर चुका हूँ। अगर 'युगवाणी' में मेरे चिंतन का दर्शन पक्ष है तो 'ग्राम्या' में उसी का भाव पक्ष है। 'युगवाणी' के दृष्टिकोण से यदि हम अपने ग्रामीणों के जीवन को देखें तो आप

गाँवों को शान्ति और प्राकृतिक सुन्दरता की रंगस्थली नहीं पायँगे। न वहाँ आपको स्वर्ग का सुख ही कहीं देखने को मिलेगा जैसा कि आप प्रायः द्विवेदी-युग के कवियों के 'ग्राम-वर्णन' में पढ़ते आए हैं। सच बात तो यह है कि 'ग्राम्या' की निम्न पंक्तियाँ ही हमारे ग्राम-जीवन का सच्चा चित्र हैं—

"यह तो मानव-लोक नहीं रे, यह है नरक अपरिचित,
यह भारत का ग्राम,—सभ्यता संस्कृति से निर्वासित !
अकथनीय क्षुद्रता, विवशता भरी यहाँ के जग में
गृह-गृह में है कलह, खेत में कलह, कलह है मग में !
प्रकृति धाय यह : तृण-तृण, कण-कण जहाँ प्रफुल्लित जीवित,
यहाँ अकेला मानव ही रे. चिर विषण्ण जीवन्मृत !"

कला की दृष्टि से 'युगवाणी' की भाषा अधिक सूक्ष्म (एब्स्ट्रेक्ट) है जो कि बुद्धि-प्रधान काव्य का एक संस्कार एवं अलंकार भी है। उसमें विश्लेषण का बारीक सौंदर्य मिलता है। 'ग्राम्या' में वही शैली जैसे अधिक भावात्मक होकर खेतों की हरियाली में लहलहा उठी है। 'ग्राम्या' और 'युगवाणी' का प्रायः एक ही संदेश है, जिसकी चर्चा मैं ऊपर कर चुका हूँ।

'ग्राम्या' को समाप्त करने के बाद आप सन् १९४० में पहुँच गए हैं। इस बीच में हिन्दी-साहित्य की सृजनशीलता हिन्दुस्तानी के स्वादहीन आन्दोलन से तथा उसके बाद १९४२ के आन्दोलन से काफी प्रभावित रही। दोनों आन्दोलनों में हिन्दी की सृजन-शील चेतना को अपने-अपने ढंग का धक्का पहुँचा, और दोनों ने ही उसे पर्याप्त मात्रा में चिन्तन-मनन के लिए सामग्री भी दी। फिर भी इन वर्षों के साहित्यिक इतिहास के मुख पर एक भारी वितृष्णा-भरे विषाद का घूँघट पड़ा रहा। इसके उपरान्त सन् १९२९ की तरह मैं अपने मानसिक संघर्ष के कारण प्रायः दो साल तक अस्वस्थ रहा। इधर मेरी नवीन रचनाओं के दो

संग्रह 'स्वर्ण-किरण' और 'स्वर्ण-धूलि' के नामों से प्रकाशित हुए हैं। 'स्वर्ण-किरण' में स्वर्ण का प्रयोग मैंने नवीन चेतना के प्रतीक के रूप में किया है। उसमें मुख्यतः चेतना-प्रधान कविताएँ हैं। 'स्वर्ण-धूलि' का धरातल अधिकतर सामाजिक है, जैसे वही नवीन चेतना धरती की धूलि में मिलकर एक नवीन सामाजिक जीवन के रूप में अंकुरित हो उठी हो।

'स्वर्ण-किरण' में मैंने पिछले युगों में जिस प्रकार सांस्कृतिक शक्तियों का विभाजन हुआ है उनमें समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है। उसमें पाठकों को विश्व-जीवन एवं धरती की चेतना-सम्बन्धी समस्याओं का दिग्दर्शन मिलेगा। भिन्न-भिन्न देशों एवं युगों की संस्कृतियों को विकसित मानववाद में बाँधकर भू-जीवन को नवीन रचना की ओर संलग्न होने का आग्रह किया है। 'स्वर्ण-किरण' में 'स्वर्णोदय' शीर्षक रचना इस दृष्टि से अपना विशेष महत्त्व रखती है। उसके कुछ पद देकर इस लेख को समाप्त करता हूँ :

भू-रचना का भूतिपाद युग हुआ विश्व-इतिहास में उदित
सहिष्णुता सद्भाव शान्ति के हों गत संस्कृति-धर्म-समन्वित !
वृथा पूर्व पश्चिम का दिग्भ्रम मानवता को करे न खंडित
बहिर्नयन विज्ञान हो महत् अंतर्दृष्टि ज्ञान से योजित !
एक निखिल धरणी का जीवन, एक मनुजता का संघर्षण,
विपुल ज्ञान-संग्रह भव पथ का विश्व-क्षेम का करे उन्नयन !

१३

श्रीमती महादेवी वर्मा

महादेवी जी हिन्दी-जगत् में पीड़ा और वेदना की अमर गायिका कवयित्री के रूप में चिर-प्रख्यात हैं। अपने जीवन के अभावों को कल्पना और भावना की तूलिका से कोमल शब्दावली में अंकित कर देना उनकी प्रतिभा का परिचायक है। अपने जीवन के प्रारम्भ से ही महात्मा बुद्ध के जीवन और सिद्धान्तों के प्रति अनुराग होने के कारण आपने उनकी करुणा को भी अपने गीतों में रूपायित किया है। दीन, दुखियों तथा जगती के अभाव-ग्रस्त मानवों के जीवन की विषमताओं का चित्रण आपने अपनी गद्य-रचनाओं में प्रचुर मात्रा में किया है। आपको पद्य-रचना पर जितना अधिकार है, उससे कहीं अधिक सबल और सप्राण आपकी गद्य-कृतियाँ होती हैं। लेखिनी द्वारा शब्दों में अपने मनोभावों का चित्रण आप अपनी गद्य-पद्य-कृतियों में करती हैं और तूलिका का रंगीन प्रतिफलन आपके बनाये करुण और सजल चित्र हैं। इस प्रकार चित्रकर्त्री, कवयित्री और महामानवी महादेवी हिन्दी की आराध्य देवी हैं।

अपने सम्बन्ध में

अपने सम्बन्ध में क्या कहूँ ? एक व्यापक विकृति के समय, निर्जीव संस्कारों के बोझ से जड़ीभूत वर्ग में मुझे जन्म मिला है। परन्तु एक ओर साधना-पूत, आस्तिक और भावुक माता और दूसरी ओर सब प्रकार की साम्प्रदायिकता से दूर, कर्मनिष्ठ और दार्शनिक पिता ने अपने-अपने संस्कार देकर मेरे जीवन को जैसा विकास दिया उसमें भावुकता बुद्धि के कठोर धरातल पर, साधना एक व्यापक दार्शनिकता पर, और आस्तिकता एक सक्रिय किन्तु किसी वर्ग या सम्प्रदाय में न बँधने वाली चेतना पर ही स्थित हो सकती थी। जीवन की ऐसी ही पार्श्व-भूमि पर, माँ से पूजा-आरती के समय सुने हुए मीरा, तुलसी आदि के तथा उनके स्वरचित पदों के संगीत पर मुग्ध होकर मैंने ब्रजभाषा में पद-रचना आरम्भ की थी।

मेरे प्रथम हिन्दी-गुरु भी ब्रजभाषा के ही समर्थक निकले, अतः उल्टी-सीधी पद-रचना छोड़कर मैंने समस्या-पूर्तियों में मन लगाया। बचपन में जब पहले-पहल खड़ी बोली की कविता से मेरा परिचय पत्र-पत्रिकाओं द्वारा हुआ, तब उसने बोलने की भाषा में ही लिखने की सुविधा देखकर मेरा अबोध मन उसी ओर उत्तरोत्तर आकृष्ट होने लगा। गुरु उसे कविता ही न मानते थे; अतः छिपा-छिपाकर मैंने 'रोला' और 'हरिगीतिका' में भी लिखने का प्रयत्न आरम्भ किया। माँ से सुनी एक करुण कथा का प्रायः सौ छन्दों में वर्णन करके मैंने मानो खण्डकाव्य लिखने की इच्छा भी पूर्ण कर ली। बचपन की वह विचित्र कृति कदाचित् खो गई है।

उसके उपरान्त ही बाह्य-जीवन के दुःखों की ओर मेरा विशेष ध्यान जाने लगा था। पड़ोस की एक विधवा वधू के जीवन से प्रभावित होकर मैंने 'अबला' तथा 'विधवा' आदि शीर्षकों से उस जीवन के जो शब्द-चित्र दिये थे, वे उस समय की पत्रिकाओं में भी स्थान पा सके थे। पर जब मैं अपनी विचित्र कृतियों तथा तूलिका और रंगों को छोड़कर विधिवत् अध्ययन के लिए बाहर आई, तब सामाजिक जागृति के साथ राष्ट्रीय जागृति की किरणें फैलने लगी थीं, अतः उनसे प्रभावित होकर मैंने भी 'शृङ्गार-मयी, अनुरागमयी भारत-जननी भारत-माता', 'तेरी उतारूँ आरती माँ भारती' आदि जिन रचनाओं की सृष्टि की वे विद्यालय के वातावरण में ही खो जाने के लिए लिखी गई थीं। उनकी समाप्ति के साथ ही मेरी कविता का शैशव भी समाप्त हो गया।

इस समय से मेरी प्रवृत्ति विशेष दिशा की ओर उन्मुख हुई जिसमें व्यष्टिगत दुःख समष्टिगत गम्भीर वेदना का रूप ग्रहण करने लगा और प्रत्यक्ष का स्थूल रूप एक सूक्ष्म चेतना का आभास देने लगा। कहना नहीं होगा कि इस दिशा में मेरे मन को वही विश्राम मिला जो पक्षि-शावक को कई बार गिर-उठकर अपने पंखों को सँभाल लेने पर मिलता होगा। 'नीहार' का अधिकांश मेरे मैट्रिक होने के पहले लिखा गया है, अतः उतनी कम विद्या-बुद्धि से पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन की कोई सुविधा न मिल सकना ही स्वाभाविक था।

बंगला न जानने के कारण उसकी नवीन काव्य-धारा से निकट परिचय प्राप्त करने के साधनों का अभाव रहा। ऐसी दशा में मेरी काव्य-जिज्ञासा कुछ तो प्राचीन साहित्य और दर्शन में सीमित रही और कुछ सन्त युग की रहस्यात्मक लालसा से लेकर छायावाद के कोमल कलेवर तक फैल गई। करुणा-बहुल होने के कारण बुद्ध-सम्बन्धी साहित्य भी मुझे बहुत प्रिय रहा है। उस

समय मिले हुए संस्कारों और प्रेरणा का मैंने कभी विश्लेषण नहीं किया है, इसलिए उनके सम्बन्ध में क्या बतलाऊँ ? इतना तो निश्चित रूप से कह सकती हूँ कि मेरे जीवन ने वही ग्रहण किया जो उसके अनुकूल था और आगे चलकर अध्ययन और ज्ञान की परिधि के विस्तार में भी, उसे खोया नहीं वरन् उसमें नवीनता ही पाई।

मेरे सम्पूर्ण मानसिक विकास में उस बुद्धि-प्रसूत चिन्तन का भी विशेष महत्त्व है, जो जीवन की बाह्य व्यवस्थाओं के अध्ययन में गति पाता रहा है। अनेक सामाजिक रूढ़ियों में दबे हुए, निर्जीव संस्कारों का भार ढोते हुए और विविध विषमताओं में साँस लेने को भी अवकाश न पाते हुए जीवन के ज्ञान ने मेरे भाव-जगत् की वेदना को गहराई और जीवन को क्रिया दी है। उसके बौद्धिक निरूपण के लिए मैंने गद्य को स्वीकार किया था, परन्तु उसका अधिकांश अभी अप्रकाशित ही है।

ऐसी निष्क्रिय विकृति के साथ जब इतना बढ़ा हुआ अज्ञान होता है तब शान्त बौद्धिक निरूपणों का स्थान क्रिया को न देना वैसा ही है जैसा जलते हुए घर में बैठकर लपटों को बुझाने की आज्ञा देना। इस अनुभूति के कारण मैंने व्यक्तिगत सुविधाएँ न खोजकर जीवन के आर्त्त क्रन्दन से भरे कोलाहल के बीच में खड़ा रहना ही स्वीकार किया है। निरन्तर एक स्पन्दित मृत्यु की छाया में चलते हुए मेरे अस्वस्थ शरीर और व्यस्त जीवन को जब कुछ क्षण मिल जाते हैं तब वह एक अमर चेतना और व्यापक करुणा से तादात्म्य करके अपने आगे बढ़ने की शक्ति प्राप्त करता है, इसीसे मेरी सम्पूर्ण कविता का रचना-काल कुछ घण्टों ही में सीमित किया जा सकता है। प्रायः ऐसी कविताएँ कम हैं, जिनके लिखते समय मैंने रात में चौकीदार की सजग

वाणी या किसी अकेले जाते हुए पथिक के गीत की कोई कड़ी नहीं सुनी।

इस बुद्धिवाद के युग में भी मुझे जिस अध्यात्म की आवश्यकता है वह किसी रूढ़ि, धर्म या सम्प्रदायगत न होकर उस सूक्ष्म सत्ता की परिभाषा है, जो व्यष्टि की सप्राणता में समष्टिगत एक-प्राणता का आभास देती है और इस प्रकार वह मेरे सम्पूर्ण जीवन का एक ऐसा सक्रिय पूरक है जो जीवन के सब रूपों के प्रति मेरी ममता समान रूप से जगा सकता है। जीवन के प्रति मेरे दृष्टिकोण में निराशा का कुहरा है या व्यथा की आर्द्रता, यह दूसरे ही बता सकेंगे। परन्तु हृदय में तो मैं आज निराशा का कोई स्पर्श नहीं पाती, केवल एक गम्भीर करुणा की छाया ही देखती हूँ।

साहित्य मेरे सम्पूर्ण जीवन की साधना नहीं है यह स्वीकार करने में मुझे लज्जा नहीं। आज हमारे जीवन का धरातल इतना विषम है कि एक पर्वत के शिखर पर बोलता है और दूसरा कूप की अतल गहराई में सुनता है। इस मानव-समष्टि में, जिसमें सात प्रतिशत साक्षर और एक प्रतिशत से भी कम काव्य के मर्मज्ञ हैं हमारा बौद्धिक निरूपण कुण्ठित और कलागत सृष्टि पंख-हीन है। शेष के पास हम अपनी प्रसाधित कलात्मकता, और बौद्धिक ऐश्वर्य छोड़कर व्यक्ति-मात्र होकर ही पहुँच सकते हैं। बाहर के वैषम्य और संघर्ष से थकित मेरे जीवन को जिन क्षणों में विश्राम मिलता है उन्हीं को कलात्मक कलेवर में स्थिर करके मैं समय-समय पर उनके पास पहुँचाती ही रही हूँ, जिनके निकट उनका कुछ मूल्य है। शेष जीवन को जहाँ देने की आवश्यकता है, वहाँ उसे देने में मेरा मन कभी कुण्ठित नहीं होगा। मेरी कविता यथार्थ की चित्रकर्त्री न होकर स्थूलगत सूक्ष्म की भावक है, अतः उसके उपयोग के सम्बन्ध में बहुत-कुछ कहा-सुना जा चुका है।

अपने चित्रों के विषय में कहते हुए मुझे जिस संकोच का अनुभव हो रहा है वह भी केवल शिष्टाचार-जनित न होकर अपनी अपात्रता के यथार्थ ज्ञानसे जनित है। मैं सत्य अर्थ में कोई चित्रकार नहीं हूँ, हो सकने की सम्भावना भी कम है, परन्तु शैशव से ही रंग और रेखाओं के प्रति मेरा बहुत कुछ वैसा ही आकर्षण रहा है जैसा कविता के प्रति। मेरा प्रत्यक्ष ज्ञान मेरी कल्पना के पीछे सदा ही हाथ बाँधकर चलता रहा है, इसीसे जब रात-दिन होने का प्राकृतिक कारण मुझे ज्ञात न था तभी सन्ध्या से रात तक बदलने वाले आकाश के रंगों में मुझे परियों का दर्शन होने लगा था, जब मेघों के बनने का क्रम मेरे लिए अज्ञेय था तभी उनके वाष्प-तन में दिखाई देने वाली आकृतियों का मैं नामकरण कर चुकी थी और जब मुझे तारों का हमारी पृथ्वी से बड़ा या उसके समान होना बता दिया गया तब भी मैं रात को अपने आँगन में 'आओ, प्यारे तारे आओ, मेरे आँगन में बिछ जाओ' गा-गाकर उन महान् लोकों को नीचे बुलाने में नहीं झिझकती थी। रात को स्लेट पर गणित के स्थान में तुक मिलाकर और दिन में माँ या चाची का सिन्दूर की डिबिया चुराकर कोने में फर्श पर रंग भरना और दण्ड पाना मुझे अब तक स्मरण है। कह नहीं सकती अब वे वयोवृद्ध चित्रकार, जिनके [illegible] का अभ्यास किया था, होंगे या नहीं। यदि [illegible] हैं वह विद्यार्थिनी न भूली होगी, जो एक [illegible] ही उसमें भरने के लिए रंग माँगती थी और जब वे रंग भरना सिखाने लगे थे तब जो नियम से उनके सामने भरे हुए रंगों पर रात को दूसरा रंग फेरकर चित्र ही नष्ट कर देती थी।

इसके उपरान्त का इतिहास तो पाठ्य-पुस्तकों, परीक्षाओं और प्रमाण-पत्रों का इतिहास है, जिसे कविता ही सरस बनाती

रही। मेरी रंगीन कल्पना के जो रंग शब्दों में न समाकर छलक पड़े या जिनकी शब्दों में अभिव्यक्ति मुझे पूर्ण रूप से सन्तोष न दे सकी वे ही तूलिका के आश्रित हो सके हैं, इसी से इन रंगों के संघात का स्वतः पूर्ण होना सम्भव नहीं। यह तो मेरे भावातिरेक में उत्पन्न कविता-प्रवाह से निकलकर एक भिन्न दिशा में जाने वाली शाखा-मात्र है, अतः दोनों गुण-दोष में समान ही रहेंगे—यदि एक का उद्गम और वातावरण धुँधला है तो दूसरे का भी वैसा ही होना अनिवार्य-सा है। यदि एक वस्तु-जगत् को विशेष दृष्टिकोण से देखता और विशेष रूप में ग्रहण करता है तो दूसरे का दृष्टिकोण भी कुछ भिन्न और ग्रहण करने की शक्ति विपरीत न हो सकेगी।

मेरी व्यक्तिगत धारणा है कि चित्रकार के लिए कवि होना जितना सहज हो सकता है उतना कवि के लिए चित्रकार हो सकना नहीं। कला जीवन में जो कुछ 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' है सबका उत्कृष्टतम विकास है, परन्तु इस उत्कृष्टतम विकास में भी श्रेणियाँ हैं। जो कला भौतिक उपकरणों से जितनी अधिक स्वतन्त्र होकर भावों की अधिकाधिक अभिव्यंजना में समर्थ हो सकेगी वह उतनी ही अधिक श्रेष्ठ समझी जायगी। इस दृष्टि से भौतिक आधार की अधिकता और भाव-व्यंजना की अपेक्षाकृत न्यूनता से युक्त वास्तुकला हमारी कला का प्रथम सोपान और भौतिक सामग्री के अभाव और भाव-व्यंजना की अधिकता से पूर्ण काव्य-कला उसका सबसे ऊँचा अन्तिम सोपान मानी जायगी। चित्र-कला वास्तु-कला की अपेक्षा भौतिक आधार से स्वतन्त्र होने पर भी काव्य-कला की अपेक्षा अधिक परतन्त्र है, कारण वह देश के ऐसे कठिनतम बन्धन में बँधी है जिसमें चित्र-कला बने रहने के लिए उसे सदा ही बँधा रहना होगा। स्वतन्त्र वातावरण का विहारी विहग अपने स्वभाव को बन्धनों के अप-

युक्त उतनी सरलता से नहीं बना पाता जितनी सुगमता तथा सहज भाव से बन्धनों का पक्षी उन्मुक्त वातावरण की पात्रता प्राप्त कर लेता है। प्रत्येक कवि चित्र के, लम्बाई-चौड़ाई से युक्त देश के बन्धनों और भावों की अपेक्षाकृत सीमित व्यञ्जना से क्षुब्ध-सा हो उठता है। न वह इन बन्धनों तोड़ देने में समर्थ है और न काव्य के वातावरण को भूल सकता है।

इसके अतिरिक्त एक और भी कारण है जो चित्रकार को कवि से एकाकार न होने देगा। चित्र-कला निरीक्षण और कल्पना, तथा कविता भावातिरेक और कल्पना पर निर्भर है। चित्रकार प्रत्यक्ष और कल्पना की सहायता से जो मानसिक चित्र बना लेता है उसे बहुत काल व्यतीत हो जाने पर भी वह रेखाओं में बाँध-कर रंग से जीवित कर देने की वैसी ही क्षमता रखता है; परन्तु कवि के लिए भावातिरेक और कल्पना की सहायता से किसी लोक की सृष्टि करके उसे बहुत काल के उपरान्त उसी तन्मयता से, उसी तीव्रता से व्यक्त करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य होगा। अवश्य ही यह पद्यबद्ध इतिहास के समान वर्णनात्मक रचनाओं के विषय में सत्य नहीं, परन्तु व्यक्ति-प्रधान भावात्मक काव्य का वही अंश अधिक-से-अधिक अन्तस्थल में समा जाने वाला, अनेक भूले सुख-दुःखों की स्मृतियों में प्रतिध्वनित हो उठने के उपयुक्त और जीवन के लिए कोमलतम स्पर्श के समान होगा, जिसमें कवि ने गतिमय आत्मानुभूत भावातिरेक को संयत रूप में व्यक्त करके उसे अमर कर दिया हो या जिसे व्यक्त करते समय वह अपनी साधना द्वारा किसी बीते क्षण की अनु-भूति की पुनरावृत्ति करने में सफल हो सका हो। केवल संस्कार-मात्र भावात्मक कविता के लिए सफल साधन नहीं है और न किसी बीती अनुभूति की उतनी तीव्र मानसिक पुनरावृत्ति ही सबके लिए सब अवस्थाओं में सुलभ मानी जा सकती है।

बालक अपना सक्रिय जीवन जिस प्रत्यक्ष और उसके अनुकरण से आरम्भ करता है वही निरीक्षण और अनुकरण पर्याप्त मात्रा में चित्रकार के अर्थ में समाहित है। परन्तु यदि विचार कर देखा जाय तो कवि इन सीढ़ियों से ऊपर पहुँचा हुआ जान पड़ेगा, क्योंकि इन व्यापारों से उत्पन्न सुख-दुःखमयी अनुभूति को यथार्थ रूप में व्यक्त करने की उत्कंठा उसका प्रथम पाठ है। इसमें सन्देह नहीं कि चित्रमय काव्य हो सकता है और काव्यमय चित्र;परन्तु प्रायः सफल चित्रकार असफल कवि का और सफल कवि असफल चित्रकार का शाप साथ लाता रहा है।

मैं तो किसी भी दिशा में सफल नहीं हूँ, अतः मेरे शाप को भी दुगुना होना चाहिए। अपने व्यस्त जीवन के कुछ क्षणों को छीनकर जैसे-तैसे कुछ लिखते-लिखते मेरे स्वभाव ने मुझे चित्र-कला के लिए नितान्त अनुपयुक्त बना दिया है, कारण जितने समय में मैं तुक मिला लेती हूँ उतने ही समय में चित्र समाप्त कर देने के लिए आकुल हो उठती हूँ।

× × ×

अपने दुःखवाद के विषय में भी दो शब्द कह देना आवश्यक जान पड़ता है। सुख और दुःख के धूपछाहीं डोरों से बुने हुए जीवन में मुझे केवल दुःख ही गिनते रहना क्यों इतना प्रिय है यह बहुत लोगों के आश्चर्य का कारण है। इस 'क्यों' का उत्तर दे सकना मेरे लिए भी किसी समस्या के सुलझा डालने से कम नहीं है। संसार जिसे दुःख और अभाव के नाम से जानता है वह मेरे पास नहीं है। जीवन में मुझे बहुत दुलार, बहुत आदर और बहुत मात्रा में सब-कुछ मिला है, परन्तु उस पर पार्थिव दुःख की छाया नहीं पड़ सकी। कदाचित् यह उसी की प्रतिक्रिया है कि वेदना मुझे इतनी मधुर लगने लगी है।

इसके अतिरिक्त बचपन से ही भगवान् बुद्ध के प्रति एक

भक्तिमय अनुराग होने के कारण उनकी संसार को दुःखात्मक समझने वाली फिलासफी से मेरा असमय ही परिचय हो गया था।

अवश्य ही उस दुःखवाद को मेरे हृदय में एक नया जन्म लेना पड़ा, परन्तु आज तक उसमें पहले जन्म के कुछ संस्कार विद्यमान हैं जिनसे मैं उसे पहचानने में भूल नहीं कर पाती...

दुःख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें, किन्तु हमारा एक बूँद आँसू भी जीवन को अधिक मधुर, अधिक उर्वर बनाए बिना नहीं गिर सकता। मनुष्य सुख को अकेला भोगना चाहता है, परन्तु दुःख सबको बाँटकर—विश्व-जीवन में अपने जीवन को, विश्व-वेदना में अपनी वेदना को, इस प्रकार मिला देना जिस प्रकार एक जल-बिन्दु समुद्र में मिल जाता है, कवि का मोक्ष है।

मुझे दुःख के दोनों ही रूप प्रिय हैं, एक वह जो मनुष्य के संवेदनशील हृदय को सारे संसार से एक अविच्छिन्न बन्धन में बाँध देता है और दूसरा वह जो काल और सीमा के बन्धन में पड़े हुए असीम चेतन का क्रन्दन है।

अपने भावों का सच्चा शब्द-चित्र अंकित करने में मुझे प्रायः असफलता ही मिली है, परन्तु मेरा विश्वास है कि असफलता और सफलता की सीढ़ियों द्वारा ही मनुष्य अपने लक्ष्य तक पहुँच पाता है।

इससे मेरा यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि मैं जीवन-भर 'आँसू की माला' ही गूँथा करूँगी और सुख का वैभव जीवन के एक कोने में बन्द पड़ा रहेगा।

परिवर्तन का ही दूसरा नाम जीवन है। जिस प्रकार जीवन के उषःकाल में मेरे सुखों का उपहास-सा करती हुई विश्व के कण-

कण से एक करुणा की धारा उमड़ पड़ी है उसी प्रकार सन्ध्या-काल में जब लम्बी यात्रा से थका हुआ जीवन अपने ही भार से झुककर कातर क्रन्दन कर उठेगा तब विश्व के कोने-कोने में एक अज्ञातपूर्व सुख मुस्करा पड़ेगा। ऐसा ही मेरा स्वप्न है।

१४

श्री जैनेन्द्रकुमार

अपने साहित्यिक जीवन में श्री जैनेन्द्रकुमार कहानीकार के रूप में उगे, उपन्यासकार के रूप में पुष्पित हुए और अब विचारक के रूप में फल रहे हैं। इस प्रकार आप कहानीकार, उपन्यासकार और विचारक एक-साथ हैं। आपकी कल्पना तथा भावना गम्भीर विवेचन और ऊहापोह के कानन में ऐसी भटकीं कि अब वे उनके लिए ही क्या, प्रत्युत समग्र हिन्दी-जगत् के लिए एक समस्या बने हुए हैं। आपकी प्रतिभा अद्भुत एवं विषय की गहराईतक पहुँचकर अभीष्ट की पकड़ करने की शैली नितान्त निराली और संवेदनशील है। आपके उपन्यासों तथा कहानियों का हिन्दी-संसार ने पर्याप्त आदर किया है। महात्मा-गांधी तथा भगवान् महावीर के सत्य, अहिंसा तथा अस्तेय आदि सिद्धान्तों को अपने जीवन में समाहित करके श्री जैनेन्द्रजी ऐसे अन्तर्मुख हुए हैं कि उनकी प्रतिभा के अमर वरदान से हिन्दी-जगत् सर्वथा वंचित हो गया है। जैनेन्द्रजी हिन्दी की विशिष्ट विभूति हैं।

अपनी कैफियत

मेरा कहानी लिखना कैसे शुरू हुआ, यह याद करता हूँ तो कुछ विस्मय होता है। विस्मय शायद इसलिए कि औरों की बात मैं नहीं जानता। मेरा आरम्भ किसी तैयारी के साथ नहीं हुआ। जब तक चाहता रहा कि कहानी लिखूँ, तब तक सोचता ही रह गया—"कैसे लिखूँ ?" और जब लिखी गई तब पता भी न था कि वह कहानी है।

बात यों हुई। वक्त खाली था और नहीं जानता था कि मैं अपना क्या बनाऊँ। दुनिया से एक माँ की मार्फत मेरा नाता था। बाकी दुनिया अलग थी और मैं अपने में बन्द अलग था। एक बूँद अलग होकर सूख ही सकती है। मैं भी सूख ही रहा।

पर जिन्दगी अकेले तो चल नहीं सकती। आखिर खाने को तो चाहिए ? उसके लिए कमाई चाहिए। तेईस-चौबीस बरस की उम्र हो जाय तो आदमी को कुछ करने की सुध आनी ही चाहिए। सुध तो आती थी, पर जुगत कुछ न मिलती थी। नतीजा यह कि दिन के कुछ घंटे तो लाइब्रेरी के सहारे काटता था। बाकी कुछ 'खामखयाली' और 'मटरगश्ती' में।

इस हालत में पहली जो कहानी लिखी गई, वह यों कि एक एक पुराने साथी थे, जिनका ब्याह हुआ। भाभी पढ़ी-लिखी थीं। पत्रिकाएँ पढ़ती थीं और चाहती थीं कि कुछ लिखें, जिससे उनका लिखा छपे और साथ तसवीर भी छपे। हम भी मन-ही-मन यह चाहते थे। दोनों ने सोचा कि कुछ लिखना चाहिए। तय हुआ कि अगले सनीचर को दोनों को अपना लिखा हुआ एक दूसरे के सामने पेश करना होगा। सनीचर आया और देखा कि उनकी

कहानी तैयार थी, हमको कुछ बात ही पकड़ न आ सकी थी कि कुछ लिखा जाता। ऐसे एक हफ्ता दो हफ्ता निकल गए। भाभी तो भी कुछ-न-कुछ लिख जाती थीं। यहाँ दिमाग दुनिया-भर में घूमकर अकिंचन-का-अकिंचन, वहीं-का-वहीं ही रहता था। हम अपनी इस हार को लेकर मन-ही-मन ओछे पड़े जाते थे। होते-होते हम जड़ हो गए। और सोच लिया कि कुछ हमसे होने वाला नहीं है। यह हमारा निकम्मापन इस तरह तय हो चुका था कि एक दिन एक दिलचस्प घटना को हमने ज्यों-का-त्यों लिख डाला। जाकर सुनाया भाभी को। (घटना भाई साहब और भाभी को लेकर थी।) भाभी लजाईं भी और खुश भी हुईं।

मैं मानता हूँ कि वह पहली कहानी थी जो फिर जाने क्या हुई।

दूसरी-तीसरी और चौथी-पाँचवीं कहानियों का बानक यों बना कि एक मित्र सन् २०-२१ की गर्मागर्म देश-सेवा के बाद सन् २६-२७ होते-होते खाली हाथ हो गए। अब क्या करें? जमने की जगह हो तो नेतागिरी के काम की सुविधा है। यों आँधी के वक्त की बात दूसरी है और ठंडे वक्त की दूसरी है। सो मित्र—बड़े विलक्षण, बड़े योग्य—अन्त में शायद पचीस रुपये पर एक पाठशाला के मुख्याध्यापक हुए। पाठशाला छोटी थी, पर उनके खयाल बड़े थे। आप ने तीसरी, चौथी क्लास के विद्यार्थियों को लेकर वहाँ एक हाथ-लिखी पत्रिका निकालनी शुरू की। मुझे लिखा कि उसमें तुम भी लिखो। कहीं पता होता कि यह तो लेखक बननेका रास्ता खुल रहा है तो मेरा जी डूब जाता। सच कहता हूँ, मन ऐसी दुस्सम्भावना का बोझ तब नहीं उठा सकता था। सो मित्र का खत आता और मैं जवाब दे देता। जवाब जरा लम्बा होता और सूझ में तब जो आ जाता, लिख जाता। इस तरह शायद छः महीने हुए होंगे कि मित्र का वहाँ से

पत्ता कट गया। निकले तो वहाँ से अपनी हाथ-लिखी पत्रिका के अंक भी उठाते लाए। उन दिनों एक हितैषी बुजुर्ग कभी-कभी घर पधारते थे। ठाली उत्सुकता में पत्रिका के अंक उन्होंने देखे और कहीं जा रहे थे तो साथ लेते गए।

चलो छुट्टी हुई। लेकिन दो-एक महीने बाद लाइब्रेरी में बैठा हुआ देखता क्या हूँ कि 'विशाल भारत' में 'श्री जिनेन्द्र' की कहानी छपी है, 'खेल'। वह 'खेल' तो जरूर मेरा है—तो क्या 'विशाल भारत' में छपने वाला 'श्री जिनेन्द्र' मैं ही हूँ? बस तब की बात पूछिये नहीं। दिल उछलता था और गिरता था। जाने किस घड़ी वह कहानी लिखी गई थी, 'खेल' कि अब जगह-जगह उसे छपी देखता हूँ और सुनता हूँ कि सचमुच वह 'एक चीज' है। क्यों न हो, लोग कहते हैं तो जरूर होगी वह चीज, पर सच मानिये कि उसके 'चीज' होने का गुमान भी होता तो 'खेल' का वह खेल 'जैनेन्द्र' से न हो पाता।

कहानी का लिखना तो ऐसे शुरू हुआ; पर उसके कुछ काल जारी रहने का भेद दूसरा है। वह रहस्य यह कि शायद 'खेल' के ही पारिश्रमिक-स्वरूप 'विशाल भारत' से चार रुपये का मनी-आर्डर चला आया। मनीआर्डर क्या आया, मेरे तो आगे तिलिस्म खुल गया। इन २३-२४ बरसों को दुनिया में बिताकर भी मैं क्या तनिक भी उस द्वार की टोह पा सका था कि जिसमें से रुपये का आना जाना होता है। रुपया मेरे आगे फरिश्ते के मानिन्द था जिसका जन्म न जाने किस लोक में होता है। अवश्य वह इस लोक का तो है ही नहीं। वह अतिथि की भाँति मेरे 'खेल' के परिणामस्वरूप मेरे घर आ पधारा, तो एकाएक तो मैं अभिभूत ही रहा। मेरी माँ को भी कम विस्मय नहीं हुआ। तो बेटे के निकम्मेपन की भी कुछ कीमत है? माँ से ज्यादा बेटा अपने निकम्मेपन को जानता था; पर 'विशाल भारत' के मनी-

आर्डर से मालूम हुआ कि आदमी अपने को नहीं जान सकता दुनिया अति विचित्र है और जाने यहाँ किसका क्या मोल लग जाय ? मोल यहाँ असली है नहीं, इसलिए मोल की तोल तो झूठी ही है।

खैर, फिर तो कुछ और भी लिखा। इसी जमाने की एक बात याद आती है। उन पाठशाला वाले मित्र के पहले खत के जवाब में मैंने कुछ लिखना शुरू किया। उस कहानी में एक पब्लिक लीडर मंच पर आते हैं जो अंग्रेजी में भारत माता को याद कर उठते हैं। कहानी पूरी हुई तो मालूम हुआ कि अपनी भारत-माता की याद तो खासी ऊँची अंग्रेजी में वह महोदय कर गए हैं—तीसरी-चौथी क्लास के बच्चों को वह कैसे पचेगी ? इससे उस रचना को तो मैंने अपने पास रोक रखा। दूसरा कुछ और लिख भेजा। पहली रचना को शीर्षक दिया गया था—'देश-प्रेम'। वह मेरा 'देश-प्रेम' एक दिन दिल्ली के एक मासिक पत्र के कार्यालय में मेरे हाथों से छिन गया। छिन तो गया, पर तीन-चार महीने हो गए, उसकी सूरत फिर उस पत्रिका में देखने में नहीं आई।

मैं डरते-डरते कार्यालय पहुँचा। सम्पादक, जो मालिक भी थे, बोले कि आपका लिखा हुआ साफ नहीं था और अशुद्ध भी था। सो हमारे सहायक गए तो उसे साथ ले गए। देखिए, अभी इसी डाक से उसकी शुद्ध प्रतिलिपि उन्होंने भेजी है। अब अगले अंक में वह जा रहा है।

मैंने रचना देखनी चाही तो सम्पादक ने मेरे हाथों में दे दी।

मैंने खड़े-खड़े उसे उलटा-पलटा कि मस्तक हाथ में लेकर मैं कुर्सी पर बैठ गया। देखता हूँ कि रचना सचमुच एकदम शुद्ध बना दी गई है।

मैंने सम्पादक से कहा कि यह रचना मुझे ले जाने दीजिए,

क्योंकि निस्सन्देह वह शुद्ध तो है, पर वह मेरी नहीं है। अपने से अधिक शुद्ध कहानी मेरा नाम कैसे उठा सकेगी ?

सम्पादक हँसकर बोले, ''जैसी आपकी इच्छा। ले जाइए। लेकिन आपकी एक कहानी तो हमारी हो चुकी है। यह ले जा सकते हैं, लेकिन दूसरी देनी होगी, और कल शाम तक मिल जानी चाहिए।'

मैंने कहा कि यह कैसे सम्भव है ?

बोले, 'तो रहने दीजिए। यही छप जायगी।'

मैंने कहा कि इतनी शुद्ध होकर यह मेरे नाम से कैसे छप सकती है, क्योंकि मैं कहाँ उतना शुद्ध हूँ।

'तो कल दफ्तर के समय तक दूसरी रचना देने का वायदा कीजिए।'

आप कहेंगे कि क्या वह रचना खरीद ली गई थी ? नहीं ? नहीं, हर पैसे के अधिकार से बड़ा प्रेम का अधिकार होता है। सम्पादक जी का, जो कि मालिक भी थे, उस रचना पर यही अधिकार था।

मैंने कहा कि अच्छा, कोशिश करूँगा।

बोले, 'कोशिश नहीं, वायदा चाहिए, कल चार बजे तक पहुँचा देने का वायदा करें तो ले जा सकते हैं।'

मेरी हालत दयनीय थी। लेखक को दयनीय होना ही चाहिए। सबका अधिकार केवल कर्तव्य है। लेकिन मैं अतिशुद्ध अपना वह 'देश प्रेम' छपने के लिए वहाँ कैसे छोड़ सकता था ? उस देश-प्रेम को खासी अच्छी तरह काटा-छीला गया था। मुझे तो ऐसा लगा कि उस मरम्मत से जगह-जगह उस बेचारे देश-प्रेम में लहू के दाग उभर आए हैं।

सम्पादक जी बोले, 'कहिये, वायदा करते हैं ?'

अपने 'देश-प्रेम' की बेहद कसी हुई चुस्त-दुरुस्त दशा को

देखते हुए नीची आँखों से मैंने कहा, 'अच्छा।'

सम्पादक जी बोले, 'तो खुशी से ले जाइए।'

यह सुनते ही 'देश-प्रेम' को मोड़-माड़कर जेब में डालकर मैं तत्काल कार्यालय से बाहर आ गया।

वह लगभग शाम का समय था। गर्मियों के दिन थे। घर आया। खाना खाया। कोठरी से निकालकर खटोली खुले खंडहर पर बाहर डाली और सोचने लगा कि कल क्या करूँगा? मन एक-एक बोझ से दबा हुआ था और कल्पना उड़ नहीं पाती थी। रात हुई और उसी खण्डहर पर खटिया डाले ऊपर देखता मैं पड़ा रहा। मेरे और तारों के बीच केवल शून्य था। ऐसे समय मुझे नेपोलियन का नाम सूझा। नेपोलियन क्या सफल हुआ? क्या उसका जीवन सार्थक हुआ? क्या वह तृप्ति लेकर गया? क्या उसमें अपने आदर्श को रखा जा सकता है?...क्या आदर्श को अपने से बाहर रखना होगा?...नहीं, नहीं, आदर्श को अपने से दूर, अलग, किसी दूसरे में आरोपित करने से नहीं चलेगा।...

ऐसे खयाल-पर-खयाल आते रहे। इन्हीं के बहाव में जैसे मन में उठा कि अच्छी बात है; एक पात्र बनाया जाय जो नेपोलियन में अपना आदर्श डालकर चले। दूसरा उसके मुकाबले में पात्र हो जो अपने आदर्श के बारे में मुखर न हो। यह दोनों फिर आपस में दूर न हों, बल्कि घनिष्ठ हों...। पर सब विचार आपस में ऐसे घुले-मिले धूमिल थे कि वे थे ही—यह भी कहना कठिन है।

इसी हालत में शनैः-शनैः नींद आ गई। सबेरे उठकर निवृत्त होना था कि याद आया कि चार बजे तक कहानी पहुँचानी है। मन को झुँझलाहट हुई। उसने विद्रोह करना चाहा। पर अपने से कोई जवाब न था; क्योंकि मुझमें असली शक्ति नहीं थी। [illegible] की जकड़ मुझसे छूट नहीं सकती थी। अतः

लिखने बैठना पड़ा। उस समय रात का उठा हुआ अस्पष्ट-सा विचार सूझ आया। बस, उसका सहारा थाम मैं लिख चला। अन्त में पाया कि 'स्पर्धा' कहानी बन गई।

वह कहानी शनैः-शनैः कैसे बनती गई और उसके उपकरण कैसे-कैसे लिखने के साथ-साथ मन में और मस्तिष्क में जुटते गए—उस विषय को यहाँ छोड़े देता हूँ, यद्यपि कहानी के अन्तरंग के निर्माण को स्वयं समझने की दृष्टि से वह विषय काफी संगत है।

खैर, कहानी हुई और उसे गुड़ी-मुड़ी करके जेब में डाल दिया। (कहानी जैसा जो स्लिप आया लम्बा, कम लम्बा, छोटा—उसी पर लिखी गई थी। इससे वह लपेटी ही जा सकती थी। उसकी तह नहीं की जा सकती थी। उस रोज ठीक याद नहीं पड़ता कि क्यों, पर ५) की मुझे बेहद जरूरत थी। माँ से माँग नहीं सकता था। वे पाँच रुपये अपने लिए नहीं, किसी और ही जरूरी बात के लिए चाहिएँ थे। तीसरे पहर के समय मैं चला, पैदल।

फतहपुरी पर मुझे भाई ऋषभचरण मिले। बोले, 'कहाँ जा रहे हो?—ओः, यह जेब आज कैसे फूली हुई है?' और देखते-देखते जेब में की लिखी कागज की रील उन्होंने निकाल ली।

'ओफ्फोह, कहानी है! तो कहानी लिखी है? कहाँ ले जा रहे हो?' मैंने बताया कि अमुक कार्यालय में ले जा रहा हूँ और ५) रु० की जरूरत है। सोचता हूँ कि कहूँगा कि उधार ही सही, इस कहानी पर ५) रु० दे दें तो अहसान हो।

ऋषभ भाई की सलाह थी कि मैं ऐसा न करूँ, क्योंकि उससे कोई फायदा न होगा।

खैर, पहुँचकर कहानी की रील सम्पादक जी को दिखलाई और ५) की अपनी गरज भी जतला दी। पर सम्पादक जी, जो

मालिक भी थे, लेखकों को पारिश्रमिक अवश्य और काफी परिमाण में देना चाहते थे। बस, प्रतीक्षा यह थी कि पत्रिका नफा देने लगे। तब तक मन पर पत्थर रखकर उन्हें अपनी असमर्थता प्रकट करनी ही पड़ेगी।

मैं नहीं जानता कि तब ऐसी अटक मुझे क्या आ गई थी। मैंने कहा कि मैं तो उधार चाहता हूँ। पर सम्पादक जी असमर्थ ही थे। उन्होंने कहा, कि आप चाहें तो कहानी ले जायँ, यद्यपि देखा जाय तो कहानी हमारी हो चुकी है, पर क्या कहूँ कहानी पर पैसा देने की स्थिति तो बिलकुल नहीं है।

लौट आया और वह कहानी फिर शायद एकाध महीने मेरे पास ही पड़ी रही। फिर एक दिन कमर से साहस बाँधकर मैंने क्या किया कि अपनी उस 'स्पर्धा' कहानी को प्रेमचन्दजी के पते पर रवाना कर दिया। साथ में एक खत लिखा कि 'माधुरी'-सम्पादक नहीं, कहानी-सम्राट् प्रेमचन्द को यह भेज रहा हूँ और छपने के लिए नहीं, बस कुछ जानने-भर के लिए यह साहस बन पड़ रहा है।

डाक में डालकर धड़कते मन से जवाब का इन्तजार करने लगा। छः-सात दिन में छपा कार्ड आया, जिसमें लिखा था कि कहानी सधन्यवाद वापिस की जा रही है। पत्र पर प्रेमचन्द जी के दस्तखत न थे।

चलो, बखेड़ा कटा। जिन्दगी की मुक्ति मौत में है और आशा की सफलता निराशा में है। पर हाय राम, काग़ज़ों की सबसे पिछली स्लिप की पीठ पर धीमी-सी लाल स्याही में अंग्रेजी में यह मैं क्या लिखा देखता हूँ? हो-न-हो यह प्रेमचन्द के अक्षर हैं। जो लिखा था उसका भाव यह था : 'यह अनुवाद तो नहीं है?'

कहना चाहिए कि प्रेमचन्द जी के परिचय का द्वार इस राह से मेरे लिए खुला। मैंने इस पर उन्हें कुछ नहीं लिखा। सिर्फ

कुछ दिन बाद एक दूसरी कहानी भेज दी। 'स्पर्धा' कहानी के पात्र विदेशी थे और रंग विदेशी था। (इसकी एक लाचारी हो गई थी) दूसरी कहानी आस-पास को लेकर थी। बस, उस 'अंधे के भेद' से चिट्ठी-पत्री शुरू हो गई।

प्रेमचन्द जी को मैं कहानी की कला के विषय में बात करने तक कभी न ला सका। यों तो कोशिश भी विशेष न की, पर जब उस तरह की बात आई, वह उसे टाल ही गए। पर कहानी उनके लिए निर्जीव विषय न थी। इससे उसकी टेकनीक पर रस के साथ वह चर्चा भी नहीं नहीं कर सकते थे। कहानी में मानव-चरित्र और मानव-हृदय उनके लिए प्रधान था और लेखन-सम्बन्धी कला एकदम गौण थी।

एक बार प्रेमचन्दजी ने कहा कि जैनेन्द्र, उपन्यास लिखो। मैंने कहा—कैसे लिखूँ? बोले, 'अरे घर में नाते-रिश्तेदार जो हों, बस उन्हीं को लेकर लिख दो।'

वह एक बात आज भी मुझे याद है। मैं नाते-रिश्तेदारों को लेकर नहीं लिख सका, न ही लिख पाता हूँ, यह बात बिलकुल अलग है। लेकिन प्रेमचन्द जी की सलाह न सिर्फ पक्की है, बल्कि बिलकुल सच्ची है। यानी प्रेमचन्द जी का वह सही-सही व्यक्त करती है। प्रेमचन्द जी की कला का मूल उनकी उस नसीहत में बसा है। दूर कहाँ जाना है और चरित्र को भी कहाँ से खोजकर लाना है। आस-पास के जीवन में ही जो जीते-जागते व्यक्ति तरह-तरह के स्वभाव लेकर, तरह-तरह के कर्म करते हुए जी रहे हैं, उनमें ही तुम क्या नहीं पा सकते हो? किसी परिवार को ले लो। तीन पीढ़ियाँ तो मिल ही जाती हैं। उनके जीवन-व्यापार पर अंकित है उन तीनों पीढ़ियों का इतिहास। जीवन की गति के विकास को भी उसमें से शोधा जा सकता है। उन्हीं के संश्लिष्ट जीवन-चित्र में से नीति और दर्शन के निचोड़

को पाया जा सकता है।

मेरा अनुमान है कि उनकी कहानियों के चौखटे आस-पास के यथार्थ जीवन पर से उठाकर लिये गए हैं। उनकी कहानियों का प्राण व्यवहार-धर्म है। उनके पात्र सामाजिक हैं। उनके चरित्र महान् इसलिए नहीं हैं कि प्रेमचन्द जी ने उन्हें महान् बनने देना नहीं चाहा है। सब-के-सब गुण-दोषों के पुञ्ज हैं। किसी का दोष विराट्, अथवा कि इतनी सघनता से काला नहीं बन पाता कि उसी में चमक आ जाय। न किसी का गुण हिमालय की भांति शुभ्र और अलौकिक कान्ति देने वाला बन पाता है। औसत आदमी की सम्भावनाओं से परे उनके पात्र नहीं जाते। कल्पना को प्रेमचन्द उठने देते हैं, पर रोमांस तक नहीं उठने देते। जैसे उन्होंने अपने को एक कर्त्तव्य से बाँध लिया है और वह कर्त्तव्य उनका वर्तमान के प्रति है। मोक्ष से और भविष्य से उनका उतना सम्बन्ध नहीं है जितना कि मानव-समाज और उसकी आज की समस्याओं से है। वह समाज-हितैषियों से छूट नहीं सकते। यह उनका बल और यही उनकी सीमा है।

एक रोज बोले, 'जैनेन्द्र, मुझमें प्रतिभा नहीं है। मैं तो परिश्रम करता हूँ। महीने में दो कहानी पूरी कर दूँ, तो समझूँ बहुत हुआ। मुझमें वह शै नहीं है जिसे प्रतिभा का लक्षण माना जाय।'

उनके वक्तव्य को भी उनके व्यक्तित्व की दृष्टि से मैं बहुत लाक्षणिक कह सकता हूँ। वह साधनापूर्वक साहित्यकार थे। साहित्य उनके लिए कभी विलास का रूप न था। वह कहानी गढ़ते थे, तैयार करते थे। उसे निकाल नहीं फेंकते थे।

मैंने उन्हें उपन्यास लिखते हुए देखा है। छोटी कहानी के बारे में तो नहीं कह सकता। शायद हो कि कहानी भी एक से अधिक बैठकों में वह लिखते हों। शायद उनके उपन्यास के

लिखने की पद्धति से कहानी के ढंग पर भी प्रकाश पड़ता हो। उनकी रफ पांडु-लिपियों के शुरू में अक्सर उपन्यास के कुछ परिच्छेदों का मैंने सिनॉप्सिस देखा है। पात्रों के नामों की फह-रिस्त कहीं-कहीं अलग लिखी मिली है। फिर उन पात्रों के अलग-अलग चरित्रों की कल्पना को सांगोपांग किया गया है। जैसे—

'दमयन्ती साधारण सुन्दर। शील का गर्व रखती है। कम, पर तेज़ बोलने वाली। वात्सल्यमयी, पर ईर्ष्यालु'...इत्यादि।

इस प्रकार परिस्थिति से अलग और पहले पात्र की रूप-रेखा को निर्दिष्ट करके चलने में शायद प्रेमचन्द जी सुविधा देखते थे। उसी भाँति प्लाट का भी एक खाका बना लेते थे। यानी पूर्व-परिस्थितियों में से ही परवर्ती स्थिति पैदा होने दी जाय, यह नहीं, बल्कि पूर्व और पर, यह दोनों स्थितियाँ पहले से निश्चित कर ली जाती थीं। इसीलिए उनकी रचनाओं में वैसी तरलता नहीं है कि पात्र हाथ न आते हों; उनकी रेखाएँ काफी उभारदार हैं।

लेकिन जैसा कि पहले कहा, प्रेमचन्द जी में एक जो बड़ी विशे-षता थी। वह यह कि वह किसी कथा-रचना का अपने पास साँचा नहीं रखते थे, न साँचे के होने पर विश्वास रखते थे। इसलिए यदि कभी मैंने नौसिखिए की भाँति चाहा भी कि हाथ पकड़कर वह मुझे कहानी लिख चलना बताएँ तो इस दुराशा में कभी उन्होंने मेरी सहायता नहीं की। और मैं अब मानता हूँ कि इस मामले में मुझे अपने ऊपर निर्भर रहने देना और किसी तरह का आरोप मुझ पर न आने देना ही उनकी बड़ी सहायता थी।

अब मैं नहीं जानता कि मुझसे अपने लिखने के बारे में पूछा जा सकता है। पूछा ही जाय तो मैं उसका एक उत्तर नहीं दे सकता। कुछ कहानियाँ बाहर देखकर लिखी हैं जैसे कि एक अन्धा भिखारी आया करता था। मेरी भानजी, जो अब आकर तबियत में मुझसे बुजुर्ग बन गई है, बोली कि मामा, इस अन्धे पर कहानी लिखो।

मैंने कहा, 'अच्छा।'

कहानी शुरू होने में दिक्कत न थी, यानी मेरी जिन्दगी चल रही है, उसका अपना दायरा और अपनी व्यस्तताएँ हैं। उस दायरे को आ छूता है, एक अन्धा भिखारी। चलो, यहाँ तक तो जो घटा वही लिख दिया गया। आगे क्या किया जाय? आगे जो कुछ हो, वह कल्पना के बल पर ही किया जा सकता है। इसलिए कुछ तो कल्पना को उस अन्धे के अतीत की ओर बढ़ने दिया और तनिक भविष्य की भी ओर। कल्पना की आँखों से मैंने देखा कि उसके दो बच्चे हैं और पत्नी भी है। और एक छोटी-सी कोठरी में रहता है और जैसे-तैसे बच्चों का पेट पालता है। स्त्री···वह साथ नहीं है···क्योंकि बच्चों के लिए भीख की रोटी काफी नहीं होती। पेट के लिए हो भी जाय, पर पढ़ाई के लिए क्या हो? इससे उसे भी कुछ कमाई करनी चाहिए। और वह माँ बेटों के लिए वेश्या बन जाती है।···और हाँ, उसीने तो पति की आँखें फोड़ी हैं···इससे वेश्या बनकर अपने को नर्क में डाले, यही उसने अपने लिए दण्ड चुन लिया है।···इत्यादि-इत्यादि। बस, इस तरह वर्तमान पर जो वह अन्धा आया था, उसको तनिक अतीत और जरा अनागत की ओर फैलाकर देखा कि कहानी हाथ आ गई। कहानी इतिवृत्त ही तो है। यानी उसमें स्थिति से स्थित्यंतर अर्थात् जीवन-गति होनी चाहिए। काल का कुछ स्पन्दन, कुछ तनाव अनुभव हो, वही, तो कहानी का रस है। यह घटना द्वारा अनुभव कराया जाय, या चाहे तो बिना घटना के ही अनुभव करा दिया जाय। चुनाँचे ऐसी भी सफल कहानियाँ हैं जिनमें खोजो तो घटना तो है नहीं, फिर भी रस भरपूर है।

ऊपर 'अन्धे के भेद' कहानी के उदाहरण में यथार्थ घटना या यथार्थ पात्र से कहानी आरम्भ हुई। पर मेरे साथ अधिकांश ऐसा नहीं भी होता है। जैसे कि पहले 'स्पर्धा' का जिक्र आ चुका

है। पर एकदम खयाल में से बना ली गई। सम्पूर्ण कहानी जैसे इस दृष्टि के प्रतिपादन के लिए है कि आदर्श को किसी बाहरी वस्तु में डालकर और फिर उसके प्रति अपना रोमाण्टिक सम्बन्ध बनाकर चलना सफल नहीं होगा। वरंच आदर्श की तो मौन एवं तत्पर आराधना ही फलदायक हो सकती है। इस धारणा से ही पात्र बन खड़े हुए और उनके घात-प्रतिघात से कुछ घटना-क्रम भी बन गया। मेरे मत से उसमें चरित्र प्रधान नहीं, बल्कि परिणाम और भाव प्रधान है।

मैं नहीं कह सकता कि इस प्रकार लिखी हुई कहानियों को सोद्देश्य कहना गलत होगा, या कि सही होगा।

कुछ कहानियाँ हैं जो मानो कि न हास्य पर और न व्यक्ति पर ही लिखी गई हैं। एक बार मुझे खयाल है कि संध्यान्तर अकेले एक मैदान में से जाते हुए मुझे अपनी चेतना पर एक अजब तरह का दबाव अनुभव हुआ था कहीं कुछ नहीं तो भी एक डर लगा। बाहर का न कुछ ही जैसे जाने क्या कुछ हो गया था और उसकी सीधी प्रतिक्रिया मेरे अन्तर मानस पर होती थी। मैं तेज चलने लगा था और साँस फूलने लगी थी। छाती धक् धक् कर रही थी। वह एक ऐसा अनुभव था कि कुछ देर टिकता और अधिक तीव्र होता तो उसके नीचे जान ही सुन्न पड़ गई होती। कोरे डर से जाने कितने मर गए है। यह डर जिसे कोरा कहते हैं, क्या है? वह कुछ है अवश्य। और मानो उसी का सचेतन भाव से पुनः स्पर्श पाने के लिए मैंने एक कहानी लिख दी। उसमें तो पात्र भी नहीं हैं, घटना भी नहीं है, केवल-मात्र वातावरण है। उसमें प्राणी हैं तो प्रेत के मानिन्द, जिनमें देह है ही नहीं और वे निरे वहम के बने हैं। ऐसी कहानियों में सोते पेड़, बिछी घास बहता पानी, सूना विस्तार, रुका वायु, टिका आसमान, मटमैला अँधियारा, यही जैसे व्यक्तिगत संज्ञा धारण कर लेते हैं। ऐसे में

धरती आसमान से बातें करने लगती है और जो अचर है वह भी मनुष्य की वाणी बोलने लगता है।

क्या मुझे मानना होगा कि जहाँ पेड़, पौधे और चिड़िया आदमी की बोली में बोलते हैं, वह अयथार्थ है? वह एकदम असम्भव, इसलिए एकदम व्यर्थ बात है? हो सकता है वह असम्भव और अयथार्थ। और किसी के लिए एकदम व्यर्थ भी हो सकती है। पर डर भी तो अयथार्थ ही है। पर जो डर के मारे मर तक गया है, उसकी मृत्यु ही क्या उसके निकट उस डर के अत्यन्त यथार्थ होने का प्रमाण नहीं है?

इसलिए मैं मानता हूँ कि वातावरण-प्रधान कहानियाँ अनिष्ट और अनुपयोगी नहीं हैं। बल्कि चूँकि उनमें हाड़-मांस की देह नहीं है, इसलिए हो सकता है कि उसकी उम्र भी शायद अधिक ही हो। देह मर्त्य है, अमर आत्मा है। इससे जिसमें दैहिकता स्वल्प और भावात्मकता ही उत्कट है, उन कहानियों में स्थायित्व भी अधिक है, ऐसा मानने को मेरा जी करता है।

तभी तो जो असम्भव की रेखा छूती है और जो स्थूल भौतिक जगत् की सम्भवता की सीमाओं से पराजित नहीं है, वह कथा जाने काल के कितने स्थूल पटल को भेदती हुई शताब्दियों से अब तक जीवित बनी हुई है। पुराणों की देवता और राक्षस वाली कहानियाँ, जातक की कथाएँ और ईसप की पशु-पक्षियों की वार्ताएँ फैलकर हमारे नित्य-प्रति के जीवन में घुल-मिल गई हैं। अतः यथार्थता का आबन्धन और अवलेप, जिस पर जितना कम है, वह कहानी समय की छलनी में छनती हुई उतनी ही श्रेष्ठ भी ठहरे तो मुझे अचरज न होगा।

१५

श्री उदयशंकर भट्ट

श्री भट्ट जी हिन्दी के ख्याति-प्राप्त कवि और नाटककार हैं। आपने अपनी कविताओं द्वारा समाज को प्राचीनता की केंचुली उतारकर नवीनता की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा प्रदान की है। कविता के अतिरिक्त आपने नाटक के क्षेत्र में अपनी अनुपम कृतियों से हिन्दी-साहित्य के भण्डार की जो श्री-वृद्धि की है, वह उल्लेखनीय है। अपने नाटकों के कथानक आपने पौराणिक गाथाओं से ही अधिकांश चुने हैं। एकांकी-लेखन में आपको आशातीत सफलता प्राप्त हुई है। कविता, नाटक और एकांकी आदि सभी क्षेत्रों में आपकी अपूर्व प्रतिभा, कला-चातुरी तथा कला-मर्मज्ञता का परिचय मिलता है। जीवन में सांस्कृतिक उन्नयन की भावनाओं का अपूर्व सम्मिश्रण करके उन्हें अपनी अनुभूतियों के आधार पर कागज पर उतार देना-मात्र ही आपकी कला की इयत्ता है। भट्ट जी की कृतियों में स्थल-स्थल पर वेदना और कसक के दर्शन होते हैं।

मेरी रचना के स्रोत

(१)

कुर्सी मेज लगाकर लिखना मुझे कभी पसन्द नहीं है। मैं पलंग पर मोटे तकिये के सहारे अधलेटा होकर लिखता हूँ। मुँह में उस समय कुछ-न-कुछ अवश्य होना चाहिए। पान या और कुछ न हो तो सुपारी-तम्बाकू ही सही। जब मुझे लिखने की प्रेरणा होती है तब मुझे लगता है कि मैं लिखे बिना नहीं रह सकता। उस समय मुझे चाहे जितना कष्ट हो, व्यवस्था करके मैं लिखने बैठ जाता हूँ। उस समय भी—रात हो या दिन—कुछ-न-कुछ मुँह में पान या सुरती चाहिए ही। सुरती तैयार करते समय वस्तु का ढाँचा तैयार होता है, खाते ही प्रेरणा स्फूर्त्त होती है और लिखना प्रारम्भ हो जाता है सिलसिलेवार। बाँध के पानी की तरह। वैसे मेरे जीवन में लिखने की प्रेरणा देने वाले बहुत-से स्रोत हैं। मैं बचपन से ही महत्त्वाकांक्षी रहा हूँ। अजमेर में हमारे मकान से जरा दूर कोठी में रहने वाले सेठ तथा उनके बच्चों को विक्टोरिया में सैर के लिए जाते देखता तो मैं सोचा करता मेरे पास ऐसी गाड़ी क्यों नहीं है? क्या मैं ऐसी बड़े घोड़ों वाली गाड़ी में नहीं बैठ सकता? क्यों ऐसा है? मैं जानता हूँ बैठने की तीव्र आकांक्षा होते हुए भी मैं उस सेठ की गाड़ी में उनके बच्चों अपने साथियों के आग्रह करने पर भी नहीं बैठा। जैसे वह गाड़ी मेरी न होने पर मेरे लिए सर्वथा त्याज्य हो। जो चीज मेरे वश के बाहर थी उसे पाने की इच्छा रहते हुए भी मैंने किसी की दया से उसे स्वीकार नहीं किया।

(२)

बहुत दिनों की बात है, मैं अपने पिता जी के साथ एक बरात

ये गया। रात का समय था गर्मी के दिन। मकान की छत पर बिठाकर बरात को भोजन कराया जा रहा था। मैं भी कुछ लड़कों के साथ एक तरफ बैठा था। अचानक परोसते-परोसते किसी ने मजाक में बच्चों से कह दिया, 'खाओ तो सही, पर चुरा-कर मत ले जाओ।' जिस बरात में हम लोग गये थे वह बड़ी नाक वालों की बरात थी। इसी समय किसी ने पूछा। 'कौन चुरा रहा है, क्या हमारे बच्चे भुखमरे हैं या चोर, यह तुमने क्या कहा ?' उत्तर मिला—'कुछ नहीं, कुछ नहीं, वह तो एक मजाक था।'

उन्हीं महाशय ने फिर कहा—'फिर तुमने ऐसे वाक्य क्यों कहे। क्षमा माँगो नहीं तो हम लोग भोजन नहीं करेंगे।'

उन महाशय ने न जाने क्या सोचा अथवा बचाव करने के लिए अनायास ही मेरी तरफ इशारा करते हुए कह दिया—'यह लड़का लड्डू उठाकर पीछे रख रहा था।' उसी समय एकदम 'कौनसा-कौनसा' की आवाज आई और उसके साथ ही सबकी निगाहें मेरी ओर घूम गईं। पिताजी पास बैठे थे बड़ी नाक वाले, क्रोधी और प्रतिज्ञा के लिए जान देने वाले, उन्होंने हाथ बढ़ाकर मुझे खड़ा कर दिया और पूछा—'क्या यह ?' हिचकिचा-हट के साथ 'हाँ, यही !' उत्तर मिला।

मेरे तो आस-पास भी कोई लड्डू न था। मैंने कहा—'मैंने कोई लड्डू नहीं चुराया। क्या मैं चोर हूँ। कहाँ है लड्डू। झूठे ! जाओ मैं ऐसी जगह खाना तो क्या पानी भी नहीं पीऊँगा।'

इसके साथ मैं पंक्ति छोड़कर आ खड़ा हुआ। परसने वाले महाशय ने देखा मेरे खड़े होते ही लोगों ने भोजन से हाथ सिकोड़ लिए। पिता जी क्रोध में काँपने लगे। उन्होंने भी खाना छोड़ दिया।

इस पर लड़की वाले ने उस परोसने वाले का तिरस्कार करते

हुए सबसे क्षमा माँगी। पिता जी को मनाया। उनके पैर पकड़ लिए। तब परोसने वाले ने कहा—'मैं तो बच्चों से मजाक कर रहा था।' सचमुच ही वह मजाक था। बात आई गई हुई। और इसके साथ ही कुछ लोग हँसकर खाने लगे। मुझे बहुत मनाया गया। गोद में उठाकर पत्तल पर बिठाया। पिताजी ने भी कहा किन्तु मैं अडिग था। मैंने नहीं खाया। पानी भी नहीं पिया। पंक्ति में भी नहीं बैठा। यही नहीं तीन दिन रहकर भी मैं न तो फिर उस घर में गया और न उनके घर पानी पिया। उन दिनों मैं कोई आठ-नौ साल का हूँगा।

मेरी महत्त्वाकांक्षा का एक और प्रमाण है, जिसे याद करके मैं अब भी कभी-कभी हँस पड़ता हूँ। छोटेपन में मैं सदा स्कूल जाते समय अपनी पुस्तकों के अतिरिक्त घर से और दो-एक मोटी किताबें लेकर चलता। ताकि लोग मुझ छोटी उम्र वाले के हाथ में मोटी पुस्तकें देखकर आश्चर्य प्रकट करें।

(३)

बचपन में जब मैं लोगों को जो पुस्तक पढ़ते देखता मैं चाहता मैं भी यही पढ़ूँ। यही कारण है आठ-दस की अवस्था के बीच तक मैंने तुलसीदास की 'रामायण' के बहुत से अंश पढ़ डाले थे। 'रघुवंश' के अंश तथा अन्य कई स्तोत्र मुझे याद कराये गए थे। 'महाभारत' की बड़ी-बड़ी कथाएँ मैं माता के मुख से सुन चुका था। उन दिनों हमारे घर में कोई पत्र नहीं आता था, पर होली, दिवाली के दिनों में पिता जी द्वारा आयोजित गोष्ठियों में ब्रज-भाषा की कविताओं का पाठ मैं सुना करता था। पिताजी को बहुत-कुछ याद था। होली के दिनों में वे होली गाते। दशहरे के दिनों में 'रामायण' का पाठ चलता। सरकारी आफिस में ऊँचे ओहदे पर होते हुए भी वे भजन-पूजन, रामायण, महाभारत में मग्न रहते। मुझे याद है ब्रजभाषा के कवित्त-सवैयों के आधार

पर मैंने एक दिन एक कवित्त बना डाला।

घर पर संस्कृत पढ़ते हुए एक दिन अनुष्टुप छन्द की टूटी-फूटी रचना की। किन्तु असली प्रेरणा मुझे लिखने की उस दिन प्राप्त हुई जब मैंने आगरा में बदरीनाथ भट्ट को देखा। वे उन दिनों 'सरस्वती' के सहायक सम्पादक थे। 'सरस्वती' मेरे लिए नई वस्तु थी। उसमें उनका नाम और लेख छपा देखकर तो मुझे लगा—यह व्यक्ति जैसे बहुत ही महान् हो। उनकी प्रत्येक चेष्टा अनोखी, अद्भुत, आकर्षक हो गई मेरे लिए। उसमें उनकी कविताएँ भी छपती थीं। उस दिन से मैं मिलने पर 'सरस्वती' का पाठक बन गया था। पर क्या मैं सब समझ सकता था, सब पढ़ सकता था? फिर भी मुझे उन दिनों पढ़ने और सब-कुछ जानने की धुन सवार रहती थी। और सबसे आन्तरिक अभिलाषा थी कि मेरा नाम भी किसी पत्र में छपे। किन्तु यह इच्छा पूरी नहीं हो पाई। इधर घर में उथल-पुथल माता-पिता की मृत्यु तथा कई कारणों से भीतर-ही-भीतर पोषित इस अभिलाषा के अंकुर को न तो पानी मिला, न वह पनपा।

मैं अंग्रेजी छोड़कर संस्कृत पढ़ने लगा, उसी में लिखने भी लगा। मद्रास की 'सहृदया' और प्रयाग की 'शारदा' में मेरे कुछ लेख निकले। जन्म से ही अपने काका रमाशंकर जी के पास पढ़ते रहने के कारण संस्कृत मैं मातृभाषा की तरह बोलता था। क्योंकि वे स्वयं संस्कृत के अतिरिक्त और किसी भाषा में नहीं बोलते थे। सब लड़कों को संस्कृत ही बोलनी पड़ती थी। वे कर्णवास में पक्के घाट पर एक कुटिया बनाकर रहते थे। वहीं अपने गुरु श्री जीवाराम जी से पढ़ते तथा छात्रों को पढ़ाते थे। यही कारण था कि संस्कृत में मेरी गति शीघ्र ही हो गई। मैं संस्कृत में तत्क्षण श्लोक बना लेता।

सबसे पहला मेरा लेख सन् १९१७-१८ में 'सांख्य-दर्शन के

कर्त्ता' नाम से 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ। जो मैंने डरते-डरते भेजा था। किन्तु उसका उत्तर द्विवेदी जी ने बड़े सहृदयतापूर्ण ढंग से देते हुए लिखा था—

"श्रीमत्सु सादरं प्रणामा:,

आपका लेख मिला। आपने उसे बड़ी बुरी तरह घसीटा है यदि मैं इसको अपने अनुरूप बना सका तो छाप दूँगा। आदि वह पत्र मेरे पास लगभग बीस वर्ष तक रहा। द्विवेदी जी का पत्र उन दिनों मेरे लिए एक निधि की तरह था। उस मेरे लेख को 'सरस्वती' में प्रथम स्थान मिला। यह देखकर मेरी छाती गर्व से फूल उठी। स्वयं बद्रीनाथ भट्ट ने (जो उन दिनों 'सरस्वती' में नहीं थे) उस लेख पर मेरी पीठ ठोंकी। वह मेरा पहला लेख था। मैंने उसके बाद धड़ाधड़ लेख लिखने प्रारम्भ कर दिए। कविताएँ भी लिखीं। 'सद्धर्म प्रचारक', 'नवजीवन' इन्दौर आदि कई पत्रों में लिखा।

यह समय मेरा पठन-काल था। मैं उन दिनों हिन्दू-विश्व-विद्यालय में था। और असहयोग-आन्दोलन का उषःकाल था। मैं भी उसमें कूद पड़ा और निरंतर चार साल तक बहते-बहते लाहौर नेशनल कालेज के अध्यापक के रूप में किनारे से जा टकराया। इस बीच में 'माधुरी', 'मनोरमा', 'प्रताप' आदि कई पत्रों में लिखता रहा। इन दिनों मैंने एक छोटा-सा काव्य भी लिखा जो मेरी ही असावधानी से खो गया।

वैसे इसी संक्रान्ति-काल में नाटक खेलने-लिखने का भी मुझे अवसर मिला है। 'स्वराज्य और असहयोग' नाम से एक नाटक मैंने १९२४ में लिखा जो खेला गया। उसमें मैंने चितरंजनदास का अभिनय किया। कई जगह पैण्टोमाइम नाटकों में मूकाभिनय करने का भी अवसर मुझे मिला है।

१९२७ या २८ तक साहित्य के सम्बन्ध में मेरे प्रयत्न प्रायः

छुट-पुट ही रहे। इन्हीं दिनों मुझे तक्षशिला जाने का सुयोग मिला। वह आयोजन एक ट्रेनिङ्ग-कालेज की तरफ से था। मैं उसमें सम्मिलित हो गया और तक्षशिला पहुँचा। तक्षशिला के खंडहर, जहाँ किसी समय बड़ा भारी विश्वविद्यालय था, एशिया-भर के छात्र वहाँ पढ़ने आते। प्रायः पाँच सौ अध्यापक थे, दस हजार के लगभग छात्रों की संख्या। राजनीति, अर्थनीति, आयुर्वेद, धनुर्विद्या, न्याय, व्याकरण-वेद-मीमांसा आदि के लिए उन दिनों भारत में दो ही विश्वविद्यालय थे। एक बिहार में नालन्दा और दूसरा उत्तर में तक्षशिला। यह भू-भाग मैंने ध्यान से देखा। अन्य लोग केवल उत्सुकता-कौतुक से उसे देख रहे थे, किन्तु मुझे तो साक्षात् वह स्थान, उसका प्रदेश, उसकी टूटी हुई दीवालों, स्थानों के आपात-भाग में सब प्रत्यक्ष-सा दिखाई दिया। मुझे लगा विष्णु मित्र चाणक्य की आत्मा मानो अब भी वहाँ वर्तमान है। छात्र भी पढ़ रहे हैं। राजाओं का आवागमन अब भी जारी है। रोगियों की चिकित्सा अब भी हो रही है। गुरु-भक्ति-निष्णात छात्र अब भी राजनीति तथा अन्य शास्त्रों का अध्ययन अब भी वैसी ही तत्परता-तल्लीनता से कर रहे हैं। भारत की राजनीति, अर्थनीति, दण्डनीति का अब भी अध्ययन हो रहा है। आदि आदि। मुझे वह सारा प्रदेश जीवित-जागृत प्रत्यक्ष-सा दिखाई दिया। मैं तन्मय हो गया। मूक हो गया। प्रत्यक्ष अगोचर होकर परोक्ष में व्याप्त हो गया ऐसा मुझे लगा। मुझे लगा मानो मैं इस काल में न होकर बौद्ध काल का प्राणी हूँ। मैं भी मानो उसी समय का कोई छात्र हूँ। मेरे अंग-अंग में, मेरे रोम-रोम में तक्षशिला के खंडहर जैसे प्रत्यक्ष होकर बस गए हों। मैं भूल गया कि मैं एक ट्रिप के साथ आया हूँ। वह तन्मयता अद्भुत थी, अपूर्व थी। मेरे जीवन में एक नया अनुभव था। वह बेचैनी वह आनन्द, वह अनुभूति

मेरे लिए एक नशा बन गई थी।

तक्षशिला के क्यूरेटर मुसलमान थे। जब हम चाय पर उनके साथ बैठे तब उन्होंने सबसे अपने-अपने अनुभवों के सम्बन्ध में, जो तक्षशिला देखकर हुए थे, प्रश्न किये। अन्य लोगों ने साधारण उत्तर देकर पीछा छुड़ाया। मैं और भी उनके पास सरक गया। मैंने जिज्ञासा से उनसे वे सब प्रश्न किये जिनके सम्बन्ध में मुझे शंका थी। उन्होंने न केवल मेरे प्रश्नों का ही उत्तर दिया बल्कि मुझे ले जाकर उन्होंने वे सब भग्न-मूर्तियाँ, आभूषण-शृंगार-प्रसाधन तथा बर्तन भी दिखाए जो म्यूजियम में सुरक्षित थे। मैंने देखा भारत के उस अतीत में एक गौरव था। चित्र-कला का परमोत्कर्ष देखकर मुझे उस काल का जैसे सभी कुछ प्रत्यक्ष हो गया। मुझे इस प्रकार तन्मय देखकर बोले—'तो आप इसका क्या उपयोग करेंगे ?'

'कह नहीं सकता, किन्तु जब तक कुछ-न-कुछ हो न जाय मैं चुप नहीं रह सकता। मुझे एक नशा-सा चढ़ गया है।' मैंने उत्तर दिया।

'क्या कुछ लिखने का इरादा है ? वैसे मैटर तो बहुत है।'

'जी,'

'तो लिख डालिये हिन्दी में इसका इतिहास।'

'देखिये !'

उसके बाद ही दो-तीन मास के भीतर 'तक्षशिला काव्य' लिखा गया।

मैंने सदा ही लिखने में प्रेरणा को प्रथम स्थान दिया है। बिना प्रेरणा के न तो कभी कुछ लिखा, न प्रवृत्ति ही हुई। मेरा सदा से यह नियम रहा है कि मैं साल में लगभग छः मास पढ़ता रहता हूँ। और छः मास में तीन-चार मास लिखता हूँ। फिर लिखने में कितना भी समय लग जाय। नाटकों की प्रेरणा मुझे

संस्कृत की पुस्तकों के अध्ययन से मिली। 'विक्रमादित्य', 'दाहर अथवा सिन्धपतन', 'छाम्बा' तथा 'सगर-विजय' इन बड़े नाटकों के लिए जहाँ-तहाँ से सामग्री एकत्र करने में काफी समय लगा। मेरे एक शिष्य और मित्र स्वर्गीय यशपाल एम० ए० उन दिनों पुराणों की वंशावली तैयार कर रहे थे, वे प्रायः मुझसे उस सम्बन्ध में चर्चा किया करते, परामर्श लेते थे। उन दिनों मैंने पौराणिक नाटक लिखे। 'दाहर' नाटक के लिए मुझे 'चचनामा' पढ़ना पड़ा। अन्य ऐतिहासिक ग्रंथ भी देखे। 'दाहर' की मूल प्रेरणा मुझे अचानक उस दिन यूनिवर्सिटी में अप्राप्य पुस्तक 'चचनामा' देखने पर मिली। इतिहास में दाहर का पराक्रम और उसकी पराजय का हाल पढ़ा था। चचनामा ने उसे उभारा। और वह नाटक लिखा गया। मुझे लगा हमारी बहादुरी में मूर्खता का काफी हाथ रहा है। समय की गतिविधि और शत्रु की चेष्टा को समझने में हमने सदा से भूल की है। और कुछ भूलें तो ऐसी हैं जिनके कारणों को पढ़कर हिन्दुस्तान की वीरता पर भी सन्देह होने लगता है। पुरानी रूढ़ियों, आचारों, मर्यादाओं और प्रथाओं से चिपके रहने के कारण ही भारत के वीर राजपूत पराजित हुए। फिर छोटे-छोटे स्वार्थों ने उनकी विवेक-बुद्धि को कुण्ठित भी तो कर दिया।

मैंने सदा ही बाहर निरीक्षण द्वारा प्रेरणा प्राप्त करके लिखने को अपना ध्येय बनाया है। दर्शन-प्रिय तथा सिनिक-सा होने के कारण मेरे आग्रह कठोर और मेरी परिभाषाएँ एकान्त रही हैं। जो जीवन में नहीं है उसके प्रति मेरा आग्रह कभी नहीं रहा। दर्शनों की 'मुक्ति' ने मुझे कभी उत्साहित नहीं किया। किन्तु दर्शनों की निरीक्षण-परीक्षण-पद्धति के प्रति मेरी आस्थाएँ सदा दृढ़ रही हैं। इसीलिए मैं 'रोमान्स' की अपेक्षा यथार्थ को अधिक महत्त्व देता हूँ। जो वस्तु मुझे नहीं मिलती उसको पाने के लिए

मैं उत्कट प्रयत्न करता हूँ और हाथ में आने पर उसके प्रति मुझे अरुचि-उपेक्षा हो जाती है। रूप ने मुझे सदा अपनी ओर आकृष्ट किया है, किन्तु प्राप्त करके भी मैं उसमें अपने को आत्मसात नहीं कर सका। मुझे उसके त्याग में मज़ा आता है। मैं उसी गौरव का भूखा रहता हूँ। पहले मुझे कविता प्रिय थी यदि उसमें जीवन का सत्य हो, जीवन की मार्मिकता हो, यद्यपि वह मैं अब भी पसन्द करता हूँ। किन्तु अब मुझे नग्न सत्य अधिक प्रिय है। कटु सत्य, तिक्त, मर्म-भेदी। मैं विद्रोह चाहता हूँ किन्तु अध्यात्म का उपासक भी हूँ। अनिर्वचनीय ब्रह्म की दृष्टि भी मुझे प्रिय है। नास्तिक भी मैं रहा हूँ, किन्तु आस्तिकता की खोज करते-करते हारने पर। मैं यह तो नहीं कहता कि उस आस्तिकता को मैंने पा लिया है। मेरा विश्वास है भौतिकवाद-मार्क्सवाद अनास्था की चरम सीमा है, समाज के हाथों व्यक्ति का परम बन्धन है। समाज, जो राजनीति, कानून के द्वारा व्यक्ति-स्वतन्त्रता को पी जाना चाहता है, उसमें न केवल व्यक्ति का व्यक्तित्व नष्ट हो जायगा समाज में भी दिक्-भ्रान्ति और कुछ अधिकार-प्रमत्त लोगों का अंकुश स्वयं समाज को विद्रोह करने पर विवश कर देगा। और यह कहना कि 'साम्यवाद' की चरम परिणति में व्यक्ति समाज की दृष्टि के अतिरिक्त कुछ नहीं सोचेगा। उसकी दृष्टि भी वही हो जायगी। साधारण व्यक्ति के लिए यह सम्भव हो सकता है, यह नियम सब पर सदा के लिए लागू नहीं किया जा सकता। भौतिकता और अध्यात्म दोनों का सन्तुलन ही मानवता की रक्षा कर सकता है। किसी एक का भी आधिक्य मानवता के लिए रोग है।

१६

श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी'

श्री प्रेमी जी पीड़ा और वेदना के संवाहक कवि और सुप्रसिद्ध नाटककार हैं। आपके हृदय में कविता की जो स्रोतस्विनी अन्तर्निहित है, वह निश्चय ही हमारी भाषा और साहित्य के लिए गौरव का प्रतीक है। उनकी प्रतिभा के ज्वलन्त अवदान उनके अनेक सामाजिक, तथा ऐतिहासिक नाटक हैं। कविता के क्षेत्र के समान नाटकों के निर्माण में भी आपकी पर्याप्त गति है। आपके नाटकों के पात्रों ने समाज को नव-निर्माण का पावन सन्देश देकर असीम उत्साह तथा संगठन-शीलता का परिचय दिया है। 'आँखों में' तथा 'स्वर्ण-विहान' के कवि प्रेमी 'रक्षाबन्धन' और 'स्वप्न-भंग' आदि कई नाटकों के कारण पर्याप्त ख्याति अर्जित कर चुके हैं। प्रेमी जी की नाट्य-प्रतिभा अद्भुत और काव्य-प्रेरणा अनूठी है।

कविता का पागलपन

आप कहते हैं, मैं अपने जीवन की कोई बात कहूँ। किन्तु जीवन की बात तो वही व्यक्ति कह सकता है, जिसने जीवन का कोई लेखा-जोखा रखा हो। मैंने अपने 'अनन्त के पथ पर' नामक काव्य की भूमिका में लिखा था—"समय और धन दोनों वस्तुओं का मैं हिसाब न लगा सका। ये मेरे जीवन में अतिथि की भांति आए और मुझसे आदर न पाकर खिसक गए।" जीवन के खोए हुए क्षणों के मस्तिष्क और हृदय के ऊबड़-खाबड़ क्षेत्र में धुँधले-से पद-चिह्न आज भी दीख जाते हैं। विस्मरण की न जाने कितनी धूल उन पर चढ़ गई है—फिर भी काली घटाओं में चमकने वाली विद्युत्-रेखाओं की भांति वे कभी-कभी चमक ही पड़ते हैं।

समय के पद-चिह्नों पर कुछ अनुभूति की रेखाएँ भी अंकित हैं। आप कहते ही हैं तो कुछ आखर-आखर आँके देता हूँ। दुनियादारी की दृष्टि से देखा जाय तो मैं सर्वथा असफल व्यक्ति हूँ। "इश्क ने ग़ालिब निकम्मा कर दिया, वर्ना हम भी आदमी थे काम के।" प्रीत की व्याधि ने मुझे कविता की उन्मादमयी वाणी दी और कविता के नशे ने मेरे सारे जीवन को पी लिया। मुझे अपने पागलपन के वे दिन याद आते हैं, जब मैं आठों पहर बावला-सा रहता था। न मुझे भोजन की सुध रहती थी, न वस्त्रों की, न स्वास्थ्य की। मेरे प्राणों की वेदना प्रत्येक क्षण अधरों का गान बनने को आतुर रहती थी और मेरे स्नेही कहते थे—"तुम क्या पागलों की तरह बड़बड़ाते रहते हो।"—मेरा छोटा-सा उत्तर था—"मैं नहीं गाता सजन, घायल हृदय का दर्द गाता है।"

संसार कहता, "तुम अपने को घायल कहते हो किन्तु तुम्हारी काया पर कहीं भी कोई घाव दृष्टिगोचर नहीं होता।" मेरा मौन संसार से कहता—"किसी हृदय के अन्तरतम का, कब रहस्य होता है ज्ञात।" विधाता ने ही चाहा था कि मैं कवि बनूँ। तभी तो उसने मुझे शिशुपन से ही स्नेह से वंचित रखकर चिर-अभाव का घाव मेरे हृदय पर कर दिया। जब मैं ढाई वर्ष का नन्हा-सा शिशु था तभी मेरी माँ पृथ्वी की बड़ी गोद में मुझे बिठाकर सदा के लिए चली गई। इस अभाव ने ही मुझे प्रीत की प्यास दी। मैंने अपनी पद्य-नाटिका 'स्वर्ण-विहान' के समर्पण में लिखा है :—

प्रथम प्रात के प्रथम रुदन में ही तो गूँज उठे थे प्राण।
मुझे बालपन में ही मुझसे छीन ले गए जब भगवान॥
"अब तक उसी वेदना-वन से चुन-चुन सुमन गूँथकर हार—
माँ, सूने में करता हूँ मैं तेरी स्मृति का ही शृङ्गार॥"

मेरा सम्पूर्ण जीवन एक न बुझने वाली प्रीति की प्यास बन गया। प्यासे मृग की भाँति संसार के विराट मरुस्थल में मैं भटकता फिरा हूँ। अनेक नयनों के सरोवरों में मैंने झाँककर देखा, कहीं दो-चार बिन्दु प्राप्त भी हुए तो उन्होंने और भी प्राणों में आग फूँक दी।

जिसे संसार वासना कहता है उसे समझने की आयु भी जब मेरी न थी तब से मैं गीत गा रहा हूँ। जब मैं केवल १६ वर्ष का था तब मैंने 'आँखों में' की रचना की थी—मैंने रचना की नहीं, अपितु मुझसे रचना हो गई थी। डूबता हुआ तिनके का सहारा खोजता है—इसी तरह मैं भी चिर-अतृप्ति के समुद्र से पार पाने के लिए संसार की सुन्दरता की किरणों का सहारा लेता था, किन्तु हाथ केवल निराशा ही आती थी। भगवान् ने हृदय भी ऐसा दिया है कि जरा छू देने से ही उसके सारे तार

झनझना उठते हैं। 'आँखों में' की सृष्टि भी ऐसे ही एक आघात ने कराली। मेरे जीवन में एक रात दिन बनकर आई, जिसमें बादल उमड़ते-घुमड़ते रहे। वैसे तो मेरी आँखों में छोटी-सी बात पर भी आँसू छलछला आते हैं, किन्तु उस रात तो मैं रो भी न सका। हृदय में रुके हुए आँसू पौ फटने से पहले ही अक्षर बनकर टपकने लगे। लेखनी चलने लगी। मैं लिखता ही रहा—रात को आठ बजे तक लिखता रहा। वह १६ घण्टों का तूफान ही मेरी 'आँखों में' रचना है। तब मैं मैट्रिक में पढ़ता था। कविता की ऊँचाइयों और गहराइयों को मैं नहीं जानता था। मेरी कविता प्रयत्न द्वारा निर्मित की हुई नहर नहीं है—वह तो स्वतः स्फूर्त निर्झर है। उसके किनारों को सँवारने या गति को संयत करने का प्रयास मैंने नहीं किया। मैंने तो समझा—"गीत क्या है जिन्दगी ही मेघ बन आती उमड़कर।" मेरी वेदना उच्छ्वास बनकर उमड़ी है, मेघ बनकर छाई है—कविता बनकर बरसी है।

मेरी वेदना बरसी और बरसती रही। पर इसका अन्त नहीं आया। मैंने कहा—

"सखि, बुद्धिमान दुनिया से है पूछ-पूछ कर हारी।
क्या दूर नहीं हो सकती, पागलपन की बीमारी।"

मेरी पागलपन की बीमारी बढ़ती ही गई। मैं स्कूल से कालिज में आया। पहला साल पास किया—दूसरे में आया। उसकी भी परीक्षा आई। अपने कविजनोचित बावलेपन के लिए तो मैं बदनाम था ही, किन्तु प्रखर प्रतिभाशील (परिश्रमशील नहीं) विद्यार्थी के रूप में भी प्रसिद्ध था—किन्तु कविता की भँवर में पड़कर मेरे विद्यार्थी-जीवन ने आत्म-हत्या कर ली। प्रातःकाल परीक्षा देने जाना था—रात्रि को एक पुस्तकालय में एक कहानी पढ़ी, जिसकी नायिका की दुःख-गाथा ने मुझे रात-भर सोने न

दिया। प्रातः जब मैं परीक्षा देने जाने लगा तब भी उसी नायिका के हृदय की वेदना मेरे हृदय में नाच रही थी। कालिज के पास पहुँचते-पहुँचते मैं गुनगुना उठा—

"सिसकते हास्य, अधर से फिसल,
आह में उड़कर मत दे जान।"

और परीक्षा के समय में देरी समझकर मैं एक पेड़ के नीचे कविता लिखने बैठ गया। जब कविता समाप्त की तो कालिज के घड़ियाल ने ग्यारह बजाए। परीक्षा समाप्त हो चुकी थी और मेरे प्रतिभाशील विद्यार्थी ने कविता के पागलपन के महा समुद्र में कूदकर आत्म-हत्या कर ली थी।

मैं अपनी जन्मभूमि, अपने घर गुना (ग्वालियर) लौट आया। मेरी जन्मभूमि, जो वन-पार्वत्य-सौन्दर्य से परिपूर्ण है—मेरे जीवन का एक-मात्र सान्त्वना है। उसके पवन में, उसकी हरियाली में, उसकी टेकरियों में, उसके कुञ्जों में, उसके ताल में, उसके खेतों में मुझे अपनी माँ का ही व्यक्तित्व व्याप्त मिलता है। मेरी 'राखी के दिन राख' कविता में जिस स्थान का वर्णन आता है वह एक प्रकार से मेरे 'गुना' का ही वर्णन है—

"उस बरसाती नाले के तट, बहन, हमारा घर था प्यारा।
कभी-कभी चौबारे तक चढ़ आती थी नाले की धारा॥

× × ×

घर से कुछ ही दूर भरा था, ताल कटोरे-सा अति सुन्दर।
जीवन में जो ज्वार उठाता था ऊपर तक जल से भरकर॥

× × ×

घर से एक खेत के पीछे एक टेकरी थी हरियाली।
जिसके मन्दिर में तू जाती थी फूलों से भरकर थाली॥"

मैं पढ़ना छोड़कर प्रकृति के आँचल में जीवन को ढालने लगा तो संसार के नग्न सत्य के कठोर और बेसुरे बोल मेरे

पिताजी की वाणी में बोल उठे—"तुम विवाहित युवक हो, तुम पर कुछ उत्तरदायित्व है, तुम्हें कुछ जीविकोपार्जन की चिन्ता होनी चाहिए।" मेरे पिताजी ने, जब मैं मैट्रिक में ही था, तभी नन्ही आयु में ही, बरबस मेरा विवाह कर दिया था—क्योंकि मेरी धर्मपत्नी एक पैसे वाले की पुत्री थी। उस पैसे वाले की पुत्री को मैंने जीवन-भर ऐसे-ऐसे कष्ट दिये जो एक गरीब की बेटी भी न सह पाती। फिर भी सारे जीवन वह मेरा सहारा बनकर रही। किन्तु उस समय तो वह मुझे बोझ ही ज्ञात हुई थी। मेरे पिताजी ने मुझे याद दिलाया कि मैं विवाहित हूँ और मुझे पत्नी के पालन-पोषण का भार स्वयं उठाना चाहिए। साथ ही उन्होंने यह भी कहा—"मैंने तुम्हारे लिए राय साहब मूलचन्द के यहाँ मुनीमगीरी की नौकरी तय कर दी है। वेतन यद्यपि २०) रु० है, लेकिन उसकी दुकान के प्रायः सभी मुनीमों को ऐसा ही वेतन मिलता है, फिर भी प्रायः सभी मुनीम लखपति बन गए हैं।" लखपति बनने में तो मुझे भी कोई आपत्ति नहीं थी, लेकिन मुनीमगिरी मैं कैसे कर सकूँगा, यही प्रश्न मेरे सामने था। बही-खातों में कविताओं के छन्द देखकर भी क्या रायसाहब मुझे २०) महीना देना पसन्द करेंगे और वह मार्ग भी बना देंगे जिससे लखपति बना जाता है, यही मेरे मन ने पूछा।

पिताजी जान गए कि २०) मासिक की नौकरी पाने के सौभाग्य पर भी मैं उत्साहित और प्रसन्न नहीं हूँ, तब भी उन्होंने स्पष्ट उत्तर चाहा—"तो तुम कल से जाओगे?"

मैंने स्पष्ट उत्तर दिया—"नहीं जाऊँगा।"

तब वह बोले—"मैं साधारण आय का आदमी हूँ. मैंने, जहाँ तक मुझसे बना तुम्हें पढ़ा दिया, तुम्हारा विवाह भी कर दिया अब तुम्हें अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिए। मैं तुम्हारा खर्च सहन नहीं कर सकता।"

ऐसी बात नहीं थी कि मेरे पिता जी मेरे प्रति सर्वथा निर्दय और कठोर थे, किन्तु वह मेरी कविता की बीमारी से मुझे मुक्त करना चाहते थे। मेरी कविताएँ उन दिनों 'माधुरी', 'सुधा' तथा 'चाँद' आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती थीं और कहीं से एक पैसा भी प्राप्त नहीं होता था। पिताजी को यह मुफ्त की बेगार मूर्खता की पराकाष्ठा जान पड़ती थी। पिताजी ने मुझे मुनीम बनाने का बहुत प्रयत्न किया, किन्तु मैं टस-से-मस नहीं हुआ। मैंने कह दिया—"मेरा विवाह आपने मेरी इच्छा के विरुद्ध मुझ पर थोपा है, मैं इसलिए इस उत्तरदायित्व को सँभालने से इन्कार करता हूँ—और रही मेरी बात, सो यदि कविता मुझे जीवित नहीं रख सकेगी। तो मैं नदी में कूदकर जान दे दूँगा।"

पिताजी ने समझ लिया कि उनके घर में एक पुत्र ने जन्म ही नहीं लिया।

उन्हीं दिनों उस समय के ग्वालियर राज्य के गृह-मन्त्री (होम मिनिस्टर) श्रीमन्त सदाशिव खासे साहब पँवार गुना में आये। वे महाराजा ग्वालियर के रिश्तेदार भी थे, उस समय के देवास के महाराजा के भाई थे, उनके बाद वे स्वयं देवास की गद्दी पर आसीन हुए थे। खासे साहब को साहित्य से प्रेम था। उन्होंने गुना के सूबा (कलेक्टर) से कहा—"मैं यहाँ के कवियों की कविताएँ सुनना चाहता हूँ।"

दो-चार कवि नामधारी जन्तु, जो उन दिनों गुना में निवास करते थे, खासे साहब के दरबार में बुलाये गए। मुझे भी बुलाया गया। वहाँ इस बीमारी का मैं ही एक ऐसा बीमार था, जो उपचार की सीमा के पार था। सभी कवियों ने कविताएँ सुनाईं। शिष्टाचार वश खासे साहब ने कुछ-कुछ 'दाद' सभी को दी मेरी भी बारी आई। मैंने वहीं कुछ पंक्तियाँ लिख मारी थीं। पूरी कविता

तो इस समय स्मरण नहीं—केवल अन्तिम पंक्ति याद है, जो यह थी—

"मुझसे गले मिलो तुम आकर।
मुझ-से ही भिक्षुक बनकर।"

कविता में यही लिखा था कि वैभव और प्रभुता के स्वामी के सामने कवि की वीणा के तार नहीं बज सकते। तुमने मुझे यहाँ क्यों बुलाया है? यदि सचमुच तुम मुझसे मिलना चाहते हो तो "मुझसे गले मिलो तुम आकर, मुझ-से ही भिक्षुक बनकर।"

मेरी कविता सुनकर खासे साहब गम्भीर हो गए। सूबा साहब आशंकित हुए। सारे कविगण विदा कर दिए गए, किन्तु मुझे खासे साहब के निजी कमरे में उपस्थित होना पड़ा।

खासे साहब ने कहा—"मैं तुम्हारी कुछ सेवा करना चाहता हूँ।"

मैंने पूछा—"आप परिहास तो नहीं करते। कदाचित दण्ड देने को आपने सेवा करना समझा हो?"

खासे साहब बोले—"नहीं, मैंने सचमुच तुमसे कुछ पाया है—इसलिए तुम्हें कुछ देना चाहता हूँ।"

मैंने कहा—"क्या दीजियेगा?"

खासे साहब—"तहसीलदारी का पद।"

मैं बोला—"आप देंगे—कोई आपका भाई छीन लेगा?"

खासे साहब—"क्यों?"

मैंने कहा—"क्योंकि मैं काम नहीं करूँगा। मैं तहसीलदारी करने के लिए पैदा नहीं हुआ।"

खासे साहब—"तब आप क्या चाहते हैं?"

मैं—"मैं तो साहित्यिक जीवन बिताना चाहता हूँ।"

खासे साहब बोले—"सो तो मैंने समझ लिया है। हमारे

राज्य में तो साहित्यिक जीवन बिताने की सुविधा तुम्हें सम्भवतः न मिल सकेगी, किन्तु मैं तुम्हारे लिए प्रयत्न करूँगा।"

उन्होंने उसी समय श्री हरिभाऊ उपाध्याय को, जो उन दिनों अजमेर से 'त्याग भूमि' का सम्पादन और प्रकाशन कर रहे थे, और अब अजमेर के मुख्य मन्त्री हैं, एक पत्र लिखा—"प्रेमी में एक उदीयमान कवि और साहित्यकार के सभी गुण हैं; मैं चाहता हूँ कि आप इन्हें साहित्य-सेवी का जीवन बिताने की सुविधा उपलब्ध कर दें।" मेरी एक कविता की नकल भी उन्होंने उस पत्र में भेज दी।

कुछ दिनों में श्री हरिभाऊ जी उपाध्याय का बुलावा मुझे मिला। मैं अजमेर पहुँचा। उपाध्याय जी से भेंट हुई। वह चर्खा कातते जाते थे और बातें करते जाते थे। मैं उस समय एक छोकरा ही था।

हरिभाऊ जी ने कहा—"खासे साहब ने तुम्हारी जो कविता भेजी है—उससे जान पड़ता है कि तुम्हारे हृदय में कविता के कीट तो हैं।"

मैंने कहा—"कविता मुझमें है या नहीं, यह तो मैं नहीं जानता—लेकिन जीवन में एक पागलपन-सा अवश्य जान पड़ता है।"

हरिभाऊ जी—"पागलपन को संयम के किनारे चाहिएं—मनुष्य दूसरों को देखकर भी बहुत-कुछ सीखता है। इसलिए मैं चाहता हूँ कि तुम अधिक से-अधिक मेरे साथ रहो।"

मैंने पूछा—"सो कैसे ?"

हरिभाऊ जी—"मेरे प्राइवेट सेक्रेटरी बन जाओ।"

मैंने सुना था एक एम० ए० उपाधिधारी सज्जन सेठ जमनालाल जी के प्राइवेट सेक्रेटरी हैं, जिन्हें सेठ जी की धोती भी धोनी पड़ जाती है। (पता नहीं इसमें सत्यांश कितना था।)

प्राइवेट सेक्रेटरी बनने की कल्पना मुझे नहीं भाई—फिर भी मैंने पूछा—"मुझे क्या करना होगा ?"

हरिभाऊ जी—"मेरे पास आने वाले पत्रों का उत्तर देना और यात्रा में साथ रहना आदि।"

मैं—"यात्रा में मेरे कपड़ों की देख-भाल कौन करेगा ?"

हरिभाऊ जी—"क्या तुम चाहते हो कि तुम्हारे कपड़े-लत्तों की देख-भाल मैं करूँ ?"

मैं—"मेरे कपड़ों की क्या, मेरी भी देख-भाल आपको करनी पड़ेगी।"

हरिभाऊ जी मुस्कराये और बोले—"जीवन में पहली बार एक दीवाने कवि के दर्शन हुए हैं। तुमसे साहित्य-रचना के अतिरिक्त कोई अन्य कार्य लेना ही मूर्खता है। तुम कल से 'त्याग-भूमि' के सम्पादन में सहयोग दो।"

इस तरह कविता के पागलपन ने 'प्रेमी' के लिए पागलखाना खोज लिया। जीवन में इस पागलपन को दूर करने का मैंने भी अनेक बार यत्न किया है, किन्तु कभी सफल नहीं हो सका। मैंने अपनी नई कविता-पुस्तक 'रूप-दर्शन' में लिखा है—

"प्रीत के अक्षर नहीं मिटते मिटाये से कभी।
काल नभ की दीप-माला को बुझा देगा कभी,
पर जलन दिल की नहीं बुझती बुझाये से कभी।
प्रीत के अक्षर नहीं मिटते मिटाये से कभी।
जब हुई इच्छा हृदय में आ बसी चुपचाप ही,
प्रीत प्राणों में नहीं आती बुलाये से कभी।
प्रीत के अक्षर नहीं मिटते मिटाये से कभी।

और प्राणों में जब तक प्रीत बसी हुई है, कवि की वीणा के तार बजते ही रहेंगे।

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी

श्री द्विवेदी जी हिन्दी-साहित्याकाश में धूमकेतु के समान उदित हुए और अपनी प्रतिभा के प्रकाश से समस्त साहित्य-संसार को आलोकित कर दिया। आपकी प्रतिभा काव्य से प्रस्फुटित होकर गद्य की ओर उन्मुख हुई और थोड़े ही दिनों में इन्होंने हिन्दी के मूर्धन्य आलोचकों में अपना विशेष स्थान बना लिया। आपकी अधिकांश कृतियों में गहन अध्ययनशीलता और विचार-परक मौलिकता के दर्शन होते हैं। चिन्तन-प्रधान गद्य लिखने में आपने विशेष पटुता प्राप्त कर ली है। प्रत्येक विषय को बिलकुल नये दृष्टिकोण और नई भाव-प्रवणता के साथ प्रस्तुत करने की शैली आपकी अपनी है।

अभिशापों की परिक्रमा

मेरा जीवन बचपन से ही निःसंग रहा है। सबके बीच भी मैं एकाकी रहा हूँ। जन्म से अल्प-श्रुत होने के कारण बहिर्जगत् से वञ्चित हूँ।

मेरा अन्तः श्रवण बधिर नहीं है। उसे वाणी का सरगम, जीवन का स्वर-सन्तुलन, हृदय का अभिसरण चाहिए। श्रुति की साधना पाने के लिए ही मेरा बधिरपन है।

घर से बाहर मेरा परिचय केवल उस विशाल वट वृक्ष से ही हो सका था, जिसका छाया-जगत् मेरा क्रीड़ा-स्थल था। पर्यटन करते हुए जब कभी पिता जी वहाँ आ पहुँचते तब बरबस अपने उस तपोवन में उठा ले जाते जहाँ वे भगवान् का एकान्त ध्यान करते थे।

वहाँ कुछ देर उन्हीं के चारों ओर खेलता रहता। कभी उनकी प्रलम्ब बाहुओं से झूल जाता, कभी उनकी पीठ पर लोटने लगता।

मुझे सुस्थिर करने के लिए पद्मासीन होकर वे कहते—'बेटा, इस तरह पालथी मारकर बैठो।'

उन्हीं की तरह पद्मासीन हो जाने पर वे पलक मूँद कर आदेश देते—'सीताराम-सीताराम कहो।'

उनका प्रसाद पाने के लिए मैं भी उनके कण्ठ-से-कण्ठ मिलाकर सीताराम-सीताराम जपने लगता।

जब वे ध्यान-मग्न हो जाते, तब धीरे से उठकर चला आता।

× × ×

घर से बाहर निकलते-निकलते मैं बाल-सखाओं के खेल में

भी शामिल होने लगा। घर के सामने ही एक बहुत बड़ा बगीचा था। शाम को उसी के मैदान में बालकों का झुण्ड पतंग उड़ाता। सबके पतंग की डोर माँझे से मजबूत थी, मेरे पतंग की डोर बिलकुल सादी थी।

मैं सबसे अलग अकेले में पतंग उड़ाता। फिर भी कोई शह-जोर साथी अपनी चढ़ी पतंग लिये हुए मेरी ओर आ ही पहुँचता। मैं कहता—'हे हे, मेरा धागा कमजोर है, मेरा पतंग मत-काटो।'

बहुत बचाने पर भी जब अचानक किसी का पतंग मेरे ही पतंग से कट जाता तब वह अपनी झेंप मिटाने के लिए मुझी पर पिल पड़ता।

इस तरह के साथियों में सबसे बुद्धू मैं ही था। बुद्धिमान तो आज भी नहीं हो सका हूँ, एक बालक भी मुझे अपनी अपेक्षा सयाना जान पड़ता है। लोक-पथ पर मेरे पैर आज भी सध नहीं सके हैं। 'पथेर दावी' (पथ के दावेदार) के शिशु-कवि की-सी मेरी सांसारिक स्थिति है।

पिता जी के पोथी-पत्रों को उलटते-पुलटते एकाएक बहन को ध्यान आया कि···यह भी उन्हीं की तरह सुपठित हो जाय। उसने मेरे हाथों में वर्णमाला की पाटी थमा दी।

पिता जी के वनवास और माँ के गोलोकवास के कारण जब वह सामाजिक जीवन में अकेली पड़ गई शिक्षा-दीक्षा और पारिवारिक देख-रेख के लिए मुझे देहात भेज दिया।

देहात निर्धन था, निर्धनता जड़ता-ग्रस्त थी। किन्तु प्रकृति के मुक्त हृदय और पृथ्वी की सहज मिट्टी ने मुझे अपने में रमा लिया।

प्रकृति के प्रकुल रूप ग्रामीण बाल-सखाओं के साथ कछारों और अमराइयों में घूमना, पेड़ों की डाल-डाल पर फुदकना, सरिता की

लहर-लहर पर तैरना, आमों की रखवाली करना, ब्राह्म मुहूर्त से पहले ही उठकर रसालों की ताजी टपक सुनना, ये बच्चों की कविताओं-जैसी उस समय की मेरी भोली-भाली भावुकताएँ हैं।

उन दिनों पढ़ने के लिए मदरसे में भेजना गो-वत्स को काँजी हाउस भेजने-जैसा ही था। वहाँ भी आमों की बगिया और गाँव के सिरहाने बहती नदिया का ही ध्यान मेरे मन को खींचता रहता। मदरसे से छुट्टी पाते ही मानो मुक्त हो सच्चिदानन्द लोक में आ जाता।

भव सागर को भाव सागर बनाकर मैं तैर रहा था।

देहात में मेरी पढ़ाई-लिखाई कैसी चल रही है, यह जानने के लिए बहन ने फिर काशी में बुला लिया। यहीं मुझे विधि पूर्वक साक्षरता मिली।

पहले के छुटे हुए साथी मिले। उनके साथ नये-नये खेल चले।

हम सभी बालकों का प्रिय मनोरञ्जन गंगा की गोद में सन्तरण था। प्राइमरी स्कूल से दोपहर को छुट्टी पाते ही मैं अपना बस्ता झटपट घर में फेंककर गंगा-तट की ओर चल देता था।

खाने-पीने की सुध-बुध भूलकर बाल-वृन्द पहले गंगा में ही खेलता रहता। जल ही मानो हमारा जीवन हो गया था।

खेल-खेल में मार-पीट हो जाने पर स्थल-युद्ध की अपेक्षा जल-युद्ध अधिक सुविधाजनक जान पड़ता था। एक डुबकी लगाई फिर पता नहीं, भीतर-ही-भीतर कौन किधर सटक गया।

मेलों के दिन तो हमारा उत्साह मानो नया जन्म पा जाता। दुर्गाजी-संकट, मोचन, जगन्नाथ जी, लोलार्क कुण्ड के मेले अब भी मन को आकर्षित करते हैं। अब वह अबोध आनन्द तो नहीं आता, किन्तु उन्हीं दिनों की स्मृति में मन अपने पहचाने रास्तों पर चला जाता है काशी के ये मेले अपने धार्मिक स्थानों से

जुड़े हुए हैं। इन मेलों से हमारा मनोरञ्जन ही नहीं बल्कि हमारी अज्ञात चेतना में सनातन परम्परा का संचार भी होता जाता था।

बड़ों की बात तो बड़े ही जानें। हमें तो मेलों के दिन अच्छे कपड़े पहनने की खुशी होती, खिलौने और पिपिहरी पाने की खुशी होती, रेवड़ी और चिउड़ा खाने की खुशी होती। दुर्गा जी के मेले में अखाड़े की रंगत और वाग्मियों का शास्त्रार्थ भी अच्छा लगता। आँखों की राह हम जितना कौतुक बटोर सकते, वह सब अच्छा-ही-अच्छा लगता।

दूसरे दिन सवेरे कपड़े तो सन्दूक में बन्द हो जाते, खिलौने टूट-टाट जाते, केवल ताड़-पत्र की बनी पिपिहरी अतीत की संगिनी बनकर साथ-साथ घूमती रहती। उसे ही बजा-बजाकर हम अपने को प्रतिध्वनित करने का सुख पाते।

× × × ×

गाँव के किसी सामाजिक उत्सव में सम्मिलित होने के लिए बहन मुझे अपने साथ फिर देहात ले गई तब वर्षों के लिए मैं काशी से बिछुड़ गया। चलते समय मेरे लिए रंगीन चित्रों से सुसज्जित बाल-साहित्य भी लेती गई। रंगों के प्रति मेरा अनुराग इन्हीं सचित्र बाल-पोथियों के कारण है। उस अबोध वय में ही मुझमें में भी वही वर्ण-संस्कार उत्पन्न हो गया, जो बहन में था। मेरे अनजाने ही रूप-रंग आकार-प्रकार की मेरी भी रुचि-विरुचि वैसी ही बन गई जैसी बहन की थी।

गाँव में जम जाने पर एक दिन मैंने कहा—'मुझे सलेट-पेन्सिल भी मँगा दो।'

उसने समझा—यह यहाँ मन लगाकर पढ़ेगा, शहर के गर्द-गुबार से बचा रहेगा।

मुझे देहात में ही छोड़कर वह काशी चली आई।

लेकिन पढ़ना-लिखना कुछ नहीं हो सका। इस बार मेरा मन खेती-पाती में लग गया। घास छीलना, पत्तियाँ बटोरना, कुएँ से भर-भरकर पानी लाना, ईख ढोना, कोल्हू चलाना, मचान पर बैठकर फसल की रखवाली करना, खलिहानों को अगोरते रहना, यही मेरा नित्य-कृत्य था।

'''बहन को जब समाचार मिला कि मेरा लिखना-पढ़ना छूट गया है, तब गाँव से दूर दूसरे गाँव में उसने छोटी बहन के पति को पत्र लिखा कि वे मुझे अपने यहाँ ले जाकर अपनी देख-रेख में लिखावें-पढ़ावें।

'''हम कई भाई-बहन थे। सबसे बड़ी बहन काशीवासिनी थीं, सबसे बड़ा भाई मैं—बिना किसी कूल-किनारे के हिलकोरें ले रहा था। हम दोनों के बीच में मँझली बहन भाग्य-गृहिणी बन गई थी। बड़ी बहन के वात्सल्य-सत्संग से वह भी सादर थी। मुझसे छोटे दो भाई, दो बहनें थीं। इन सबका नामकरण बड़ी बहन ने अपने स्नेह के अनुरूप ही किया था—एक का नाम था कञ्चन, दूसरे का नाम था हीरामन, छोटी बहनों में एक थी कलावती दूसरी थी मुन्नी। ये सभी अपने दुधमुँहे दिनों में ही चल बसे।

× × ×

घर में सबसे सादा नाम मेरा था—मुन्छन: श्मश्रु-विहीन शिशु। नन्द-नन्द ने कहा था—'मैया कबहिं बढ़ेगी चोटी ?' मेरी चोटी भले ही बढ़ जाय, लेकिन श्मश्रु-मण्डित मैं आज भी नहीं होना चाहता।

'''इच्छा न होते हुए भी मुन्छन को शिक्षा-दीक्षा के लिए मँझली बहन के यहाँ जाना ही पड़ा।

'''वहाँ मैं दुहरे शासन के बीच आ पड़ा अध्यापकों के शासन की अपेक्षा घर का शासन अधिक कठोर था।'''

मदरसे से लौटकर आस-पास जाकर हँसने, खेलने की भी स्वतन्त्रता नहीं थी। घर के सामने ही एक कोने में चुपचाप जा बैठता था। मन में चारों ओर से सूनापन उमड़ पड़ता। भीतर-ही-भीतर मूक क्रन्दन उद्वेलित हो उठता।

मेरा वही करुण सूनापन काव्योन्मुख हो गया। पाठ्य पुस्तक में पढ़ी हुई कविताएँ ही मेरे एकान्त का गान बन गईं। अपने सूनेपन की साँसों में मैं उन दिनों सभी रसों की कविताएँ करुण लय से ही गुनगुनाने लगता। वह प्रथम विश्व-युद्ध का उपसंहार-काल और हिन्दी का द्विवेदी-युग था।

···मन में तरंगित, बाहर निस्तरंगित जीवन अपनी दैनिक गति से बहता चला जा रहा था।···अचानक एक दिन तीसरे पहर मदरसे में से मुझे साथ लेकर बड़ी बहन काशी के लिए चल पड़ी। घर में किसी से भेंट भी न हो सकी।

काशी को मैंने बाल्य-क्रीड़ा की आँखों से देखा था।···ऐसे ही अनजान दिनों में मेरा मन पढ़ने-लिखने में लग गया।

उन दिनों पत्र-पत्रिकाओं का नाम भी नहीं सुना था।···मेरी पाठ्य-पुस्तक के अतिरिक्त भी संसार में बहुत सी पुस्तकें हैं, इसकी मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था। पहले-पहल जब पुस्तकालय में पुस्तकों की पंगत देखी, तब वे अपने सादे-रंगीन सभी तरह के मुखपृष्ठों में बड़ी सुहावनी और अपने भीतर कोई अज्ञात सुरम्य लोक छिपाये जान पड़ीं।

परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाने पर मुहल्ले के स्कूल की सीमा पार करके आगे की पढ़ाई के लिए घर से बहुत दूर शहर के मिडिल स्कूल में आना-जाना पड़ा। उस साल अपने स्कूल में ही नहीं, बल्कि शहर के सभी प्राइमरी स्कूलों के परीक्षा-फल में मेरा नम्बर सबसे आगे था। इसलिए मिडिल स्कूल में पहले ही दिन से मैं अध्यापकों का प्रिय पात्र बन गया। पाँचवें दर्जे में पढ़ रहा था,

किन्तु हिन्दी और गणित में तेज होने के कारण स्कूल के हेड-मास्टर मुझे सातवें दर्जे में ले लेना चाहते थे।

···अचानक एक दिन सबकी आशाओं पर तुषार-पात हो गया, जब मैंने पढ़ना छोड़ दिया।

छोड़ने का कारण यह मलनु तन, स्वल्प श्रवण, और स्वप्निल मन है।

वह सन् १६२० के असहयोग-आन्दोलन का आरम्भ काल था। सबको स्कूलों और कालिजों का बहिष्कार करते देखकर मुझे भी ढाढ़स बँधा।

स्कूल छोड़ने के बाद मैं सार्वजनिक सभाओं और समाचार-पत्रों के सम्पर्क में आ गया।

ज्ञान की भूख बनी हुई थी, वह अपने गो-चारण के लिए कोई मुक्त भूमि चाहती थी।

× × ×

मेरा स्वप्निल मन भ्रमणशील हो गया।···वे भी क्या दिन थे! पवन की तरह मैं अनिकेतन चारों ओर पर्यटन कर रहा था—न मुझे काल-भय था, न विश्व-भय! न अपनी निर्धनता पर क्षुब्ध था, न सभ्यता पर लुब्ध। नंगे पैर, नंगे सिर, शरीर की तरह ही शीर्ण वस्त्राच्छादन में निर्द्वन्द्व मन किसी निष्किञ्चन परिव्राजक की तरह डोल रहा था।···

···बहनों की तरह ही, मेरे जीवन में संन्यासियों का भी आभार है। बहनें अपने स्नेह की बाती सँजोती रहीं, संन्यासी अपना आलोक-दान देते रहे।

उस अनिकेतन-जीवन में भी स्वाध्याय चलता रहा। यह संयोग ही था कि पुस्तकें अनायास अच्छी ही मिलती गईं।

एक दिन अकस्मात् ब्रह्म-लीन स्वामी रामतीर्थ का जीवन-चरित्र पढ़ गया।···वह आनन्द-कन्द सच्चिदानन्द-विहारी राज-

हंस मुझे भी अपने मानसरोवर में बहा ले गया।

'''इन्हीं दिनों एक गुरुजन ने मेरा नूतन नामकरण कर दिया---शान्तिप्रिय।

× × ×

मेरी शिक्षा-दीक्षा हिन्दी की साक्षरता तक ही सीमित होने के कारण अन्तः प्रान्तीय और अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य का सहयोग मुझे उतना ही प्राप्त है, जितना अपनी भाषा के माध्यम से सम्भव है। लेकिन अति धन की तरह अति अध्ययन पर मेरा विश्वास नहीं है। ज्ञान के आश्रम का मैं केवल लव-कुश बना रह सकूँ, यही मेरी अभिलाषा है।

× × ×

आज बहन में और मुझमें पुराण और इतिहास का अन्तर पड़ गया। अब भी मुझमें अवशिष्ट पौराणिक आस्थाएँ बहन की हैं, ऐतिहासिक, (आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक) विकृतियाँ मेरे युग की हैं। ये विकृतियाँ मेरे जीवन में अवगुण्ठित हैं, इसलिए उनका विद्रूप-चित्र बना लेना आसान है। किन्तु वह चित्र मेरा नहीं, इतिहास का है, जिससे कोई भी असम्पृक्त नहीं है।

× × ×

उस दिन बहन की चिता की परिक्रमा में मैंने युग के प्रज्वलित अभिशापों की ही परिक्रमा की थी। आज उसी चिता की ज्वाला सारे संसार में फैली हुई है। मेरी ही तरह सारा संसार अभिशापों की परिक्रमा कर रहा है।

१८

डॉक्टर रामकुमार वर्मा

डॉक्टर वर्मा का स्थान हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास में अपना विशेष महत्त्व रखता है। आपने एक कवि के रूप में अपना साहित्यिक जीवन प्रारम्भ किया और बाद में धीरे-धीरे आलोचना, नाटक आदि विभिन्न अंगों की पूर्ति के लिए अपनी अनेक उल्लेखनीय कृतियाँ हिन्दी-साहित्य को प्रदान कीं। एक गम्भीर समालोचक होने के साथ-साथ आप सफल अध्यापक भी हैं। वर्मा जी की प्रायः सभी कृतियों में उनकी विवेचन-पटुता और गम्भीर भाव-प्रवणता के दर्शन होते हैं। हिन्दी-साहित्य में आप एक भावनाशील कवि, सफल एकांकीकार और उत्कृष्ट आलोचक के रूप में विख्यात हैं।

मेरे जीवन के कुछ चित्र

जब मैं अपने जीवन के प्राचीन पृष्ठ उलटता हूँ तो सबसे प्रमुख अपनी पूज्य माता का चित्र आता है—श्रीमती राजरानी देवी का—जिन्होंने मेरे जीवन की रूप-रेखा अपने कलापूर्ण हाथों से खींची। वे संगीतज्ञ थीं और काव्य-ज्ञान से पूर्ण। आज भी उनका संगीत-स्वर मेरे कानों में गूँज जाता है। जिस प्रकार वे उषा-काल में उठकर राग विभास के स्वरों में 'भोर भयो जागहु रघुनन्दन' तन्मयता से गाती थीं और हम लोग उठकर उन्हें घेरकर बैठ जाया करते थे। मुझसे भी वे गाने को कहतीं और ठीक गाने पर नाश्ते में एक जलेबी अधिक देने का पुरस्कार घोषित करतीं। वह मेरे जीवन का पहला पुरस्कार था, जो मेरे लिए 'देव पुरस्कार' से भी अधिक मूल्यवान है।

उनके काव्य-ज्ञान का प्रभाव मेरे सबसे बड़े भाई श्रीरघुवीर-प्रसादजी पर भी पड़ा था, जो ब्रजभाषा में कविता लिखने की रुचि रखते थे। मेरी माताजी खड़ी बोली को देश-भाषा मानती थीं और उसी में कविता लिखने को कहती थीं, यद्यपि ब्रजभाषा भी उन्हें प्रिय थी। मैंने खड़ी बोली पसन्द की। जब मैं कविता लिखकर मात्राएँ गिना करता था तो उन्होंने कहा—"बच्चे, मात्रा गिनेगा या भाव लिखेगा?" उन्होंने प्रत्येक छन्द के लिए एक-एक राग निर्धारित कर उसी राग के स्वर में कविताएँ लिखने को कहा जिससे मात्राओं में कभी भूल न हो सकी। उनकी सिखलाए हुए छन्दों की अलग-अलग तानें मुझे आज भी याद हैं। किन्तु वे नहीं हैं।

बचपन से 'प्रतियोगिता' मुझे विशेष प्रिय रही। कुश्ती लड़ने

में, नाटक में, अभिनय करने में और पढ़ने में। कुश्ती की प्रतियोगिता तो ऐसी थी कि नागपंचमी के दिन अखाड़े में मैंने अपनी 'दूनी जोड़' को साफ़ ज़मीन पर दे मारा और 'चित्त' कर दिया। वे महाशय उस दिन 'फुल्लम' (सर्व विजयी) थे और अखाड़े में दोनों हाथों से सलाम करके बैठकों-पर-बैठकें लगा रहे थे। कहते थे, "कोई रुस्तुम (रुस्तम) आ जाय।" मैं पिता जी के साथ तमाशा देख रहा था। मैं भी कुश्ती लड़ता था, पिता जी के सामने अपनी अवहेलना न देख सका। मैंने ललकार दिया—"चला आ पट्ठे।" और अखाड़े की धूल से हाथ मलते हुए उससे हाथ मिलाया और "बोल बजरंग" कहकर भिड़ गया। ४ मिनट १७ सैकिंड में मैंने उस पर सवार होकर और लँगोट की पुश्त पकड़कर 'चित्त' कर दिया। तालियों के बीच आकर शेरवानी और पुरस्कार लेकर उसी 'फुल्लम' को दे दिया।

अभिनय में तो 'श्रीकृष्ण' के अभिनय का विशेषज्ञ रहा। बाँसुरी कई दिनों तक हाथ से न छूटी। कर्नलगंज में एक रोज अपने मकान के सामने बजा रहा था तो मेरे एक मित्र ने पिताजी से शिकायत कर दी कि "तुम्हारे सपूत बाजार में बाँसुरी बजाते फिरते हैं।" तब से बाँसुरी छूट गई। कृष्ण के अभिनय में मुझे बहुत से पुरस्कार मिले। यहाँ तक कि कृष्ण का अभिनय करने के लिए मुझे अपना स्कूल और शहर छोड़कर दूसरे स्कूलों में पार्ट करने जाना पड़ता था। मिहोरा स्कूल के हेडमास्टर पं० धनीराम पाण्डेय तो मुझे कृष्णजी कहकर ही पुकारा करते थे। कृष्ण के सिवाय दो पार्ट और खेले। एक तो 'शिवजी' में 'सूर्याजी' का और 'परिवर्तन' में 'श्यामलाल' का। लेकिन ये पार्ट कुछ मुझे जँचे नहीं। अन्तिम अभिनय नरसिंहपुर में मराठा सरदार 'सूर्याजी' का ही रहा। 'सोफ़िया' में प्रेमाभिनय था। मेरी बड़ी बहन भी नाटक देखने गई थीं। उन्होंने आकर मेरे प्रेमाभिनय पर मुझे बहुत

'बुरा-भला' कहा। मैंने कहा—"तो अब अभिनय न करूँगा।" उन्होंने कहा—"अपने श्रीकृष्ण का करो ना?" मैंने कहा, "अब मैं श्रीकृष्ण से बहुत 'बड़ा' हो गया। खतम करो।"

पढ़ने में कभी पीछे नहीं रहा, फेल होने का अनुभव मुझे कभी नहीं हुआ। सदैव 'डिवीजन' में पास हुआ। माताजी ने कहा था—"कुमार, पढ़ने में पहले दर्जे का ध्यान रखना, जैसे अर्जुन ने चिड़िया के केवल गले पर ध्यान रखा था।" मैंने कहा—"तो मुझे अर्जुन बनाना चाहती हो?" उन्होंने कहा—"क्यों बनाऊँ?" और मेरे कान खींचे। जब मैंने एम० ए० प्रथम श्रेणी में सर्व प्रथम स्थान पाकर पास किया तब वे संसार से चली गई थीं। उनका आदर्श पाकर भी जैसे मैं नहीं पा सका। अपनी सफलता का समारोह मैंने आँसुओं से मनाया था।

कविता कैसे लिखी? सुनिए। सिहोरा (जबलपुर) स्कूल में मेरे एक पंडितजी थे। उनका नाम था पं० विश्वम्भरप्रसादजी गौतम विशारद। वे प्रयाग से प्रकाशित होने वाले पं० रामजीलाल शर्मा के 'विद्यार्थी' नामक मासिक पत्र में लिखा करते थे। अपनी कविताओं की नकल भी मुझसे कराते थे। घर पर माताजी का 'काव्य-प्रेम' और स्कूल में पंडितजी का 'विद्यार्थी'। मैंने सोचा—'मैं भी कविता लिखूँगा।' उस समय मैं मिडिल क्लास में पढ़ता था। परीक्षा सिर पर सवार थी। पढ़ने की रात-दिन चिन्ता। मैंने अपनी कापी पर लिखा—

ईश्वर मुझको पास कराओ अब।

और फिर माताजी द्वारा दिये हुए नाश्ते की जलेबियों की याद करके लिखा—

और मिठाई खूब-सी खाओ तब॥

मैंने अपनी पंक्तियों में 'अब' और 'तब' इसीलिए अन्त में जोड़ा था कि मैं तुलसीदासजी की चौपाई का चोर न समझा

जाऊँ। माताजी ने कहा—"'अब' और 'तब' काट दो।" मैंने कहा—"क्या चाहती हो कि मैं तुलसीदास की चोरी करूँ।" उन्होंने हँसकर कहा था—"छन्द की चोरी चोरी नहीं है।" लेकिन अपना मन रखने के लिए मैंने 'अब' और 'तब' रहने दिया।

असहयोग में मैंने भाग लिया। तब पिता जी मंडला (सी० पी०) में एक्स्ट्रा असिस्टेंट कमिश्नर थे। मैं नरसिंहपुर में था। सन् १९२१ की बात है। नागपुर-कांग्रेस ने असहयोग-आन्दोलन का प्रस्तावपास किया था। शौकतअलीने नरसिंहपुर आकर स्कूल छोड़ने के लिए कहा। मैंने सभा से उठकर ही प्रण किया कि मैंने स्कूल छोड़ दिया। तब मैं दसवें दर्जे में था। ३) स्कालरशिप मिलता था और क्लास में प्रथम आने के कारण मानीटर था। पिताजी मंडला से आए। मेरे भविष्य की 'एक्स्ट्रा असिस्टेंट कमिश्नरी' का चित्र खींच कर उन्होंने पुनः स्कूल जाने को कहा। मैं नहीं गया, वे नाराज हुए। मैंने कहा—"आपकी कोर्ट में आऊँ तो मुझे आजीवन कारावास दीजिए।" उन्होंने कहा—"अभी लो" और अपना बेत मँगवाया। मैंने ७२ घंटे का उपवास किया और स्कूल जाने से बच गया। उन्हीं दिनों जलूस में राष्ट्रीय झंडे को लेकर निकलता था। गाने के लिए नये-नये गीतों की आवश्यकता पड़ती। मैंने लिखा था—

"नहीं डरेंगे नहीं डरेंगे तोपों से तलवारों से।
नहीं डरेंगे लेश-मात्र भी भीषण कारागारों से॥" आदि

उसी समय 'देश-सेवा' कविता के लिए कानपुर के श्री बेणीमाधव खन्ना की ५१) पुरस्कार वाली घोषणा निकली। पिताजी आए हुए थे उन्होंने मुझसे व्यंग में कहलाया—"छोटे गांधीजी से कहो देश-सेवा पर कविता लिखें।" मैंने कहा—"पिताजी की आज्ञा से लिखूँगा, सफलता मिले चाहे न मिले। इस समय उनकी आज्ञा न्याय-युक्त है, पिछली बार नहीं थी।" मैंने बिना

किसी को बतलाये कविता लिखकर भेज दी। मेरे बड़े भाई ने कविता देखने की इच्छा प्रकट की। मैंने कहा—"संशोधन न कीजिएगा।" उन्होंने पूछा—"क्यों ?" मैंने कहा—"यदि पुरस्कार मुझे मिला तो सारा श्रेय आप लेंगे।" उन्होंने कहा—"आहा, जैसे पुरस्कार जनाब को मिल ही जायगा।"

तीन महीने बाद सूचना मिली कि मुझे पुरस्कार मिल गया। तभी से मैं बराबर कविता लिखने लगा। फिर पिताजी ने स्कूल जाने के लिए नहीं कहा और मैं डेढ़ वर्ष तक नगर-कांग्रेस-कमेटी की ओर से कांग्रेस-प्रचार करता रहा, खद्दर बेचता रहा। एक बार जब मैं खद्दर का गट्ठर लेकर माताजी के पास आया तो उन्होंने कहा था—"मुझे गर्व है कि मेरा एक लड़का देश-सेवा में तन-मन से काम कर रहा है।" मुझे याद है उस दिन पिताजी ने खद्दर का एक कोट बनवाया था।

आज न पिताजी हैं और न माताजी। ये कहानियाँ भी भूलती जा रही हैं। आज आपके अनुरोध ने मुझे बीती बातें याद करा दी हैं। उस जीवन और इस जीवन में कोई साम्य नहीं।

अब तो—

I fall on the thorns of life : and I bleed शेष है और कविता अपनी गति में चली जा रही है।

१६

श्री सियारामशरण गुप्त

गुप्त जी अपने आदरणीय अग्रज राष्ट्र-कवि मैथिलीशरण गुप्त जी की भाँति पहले कवि के रूप में उगे और एक सफल उपन्यासकार तथा कहानी-लेखक के रूप में हिन्दी-साहित्य-वाटिका में विकसित हुए। गुप्त जी की प्रायः सभी कृतियों में उनकी गहन अनुभूति तथा मर्मस्पर्शी वेदना और अतुल प्रतिभा के दर्शन होते हैं। आप जितने सफल कवि हैं उससे कहीं अधिक सफलता उन्होंने गद्य-लेखन में प्राप्त की है। उपन्यास तथा कहानी के क्षेत्र में भी आपने पर्याप्त लोक-प्रियता प्राप्त कर ली है।

बाल्य-स्मृति

वह मेरी पहली मौलिक कल्पना थी। बड़े-बड़े पण्डित और बड़े-बड़े कर्मठ भी जिस समस्या का समाधान जीवन-भर नहीं कर पाते हैं, सुनिए, निरे बचपन में उसे मैंने किस विचित्र रीति से सुलझाया था।

महालक्ष्मी के पूजन के लिए घर में प्रतिवर्ष कुम्हार के यहाँ से एक मिट्टी का हाथी आता था। आज भी आता है और अब मैं उसे देखने भी नहीं जाता। परन्तु उस समय तो मुझे वह पागल ही कर देता था। उसे देखकर एक दिन मेरे मन में एक अद्भुत भावना का उदय हुआ। सभी जानते हैं कि हाथी और चिउंटी में एक-सा ही जीवन है। इन दोनों के विराट् और सूक्ष्म आकार किसी को धोखे में नहीं डाले रह सकते। इस तत्त्व की सहायता से संसार में एक क्रान्तिमूलक परिवर्तन करने की बात मुझे सूझी। मैंने सोचा, 'इस हाथी के पेट में एक चिउंटी पहुँचा-कर आवागमन के सभी द्वार मिट्टी से अच्छी तरह बन्द कर दूँ तो क्या हो ?' उत्तर मेरे लिए बहुत सीधा था; मेरी उस अवस्था से भी अधिक सीधा और सरल। चिउंटी की आत्मा अपने शरीर से मुक्त होकर हाथी के भीतर बैठ जायगी और वह सजीव हो उठेगा! जीव को बाहर निकलने के लिए सन्धि न मिलेगी तो इसके अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है। पार्वती माता ने मिट्टी के पुतले से गणेश की प्राण-प्रतिष्ठा की थी। मेरा वह हाथी 'गणानां गणपति' बन जायगा, यह मैंने नहीं सोचा था। वह सजीव हो जायगा, यही मेरे लिए बहुत था। अपने इस नये आविष्कार से मेरा बाल-हृदय एक साथ उछल उठा। जब यह

छोटा-सा हाथी अपनी छोटी-सी सूँड हिलाता-डुलाता इस आँगन में डोलने-फिरने लगेगा, तब सब कहीं कैसी धूम मच जायगी, कितना बड़ा कौतुक होगा वह !

साहित्य की मिट्टी लेकर उसमें प्राण-सञ्चार करने की बात कुछ इसी तरह आज भी मेरे मन में चल रही है। कह नहीं सकता, इसी तरह कब तक चलती रहेगी। उस समय तो मेरा वह मिट्टी का हाथी मिट्टी का ही बना रहा। उल्लास उत्पन्न करने वाली अनेक कवि-कल्पनाओं की भाँति, वह प्रथम कल्पना भी रचना में पूरी नहीं उतर सकी। सोचता हूँ, अच्छा ही हुआ। यदि उस समय वह हाथी सजीव हो जाता, तो बढ़कर आज इतना हो गया होता कि घर में कहीं उसे बाँधने तक के लिए ठौर न मिलता।

लक्ष्मी का राजवाहन घर में बाँध रखने के पहले लक्ष्मी का आवाहन ही मेरा पहला काम होना चाहिए था। यह न जानकर भी उसी समय मेरा ध्यान इस ओर गया। लक्ष्मी को प्रसन्न कर लेने की एक युक्ति अनायास मुझे मिली। किससे मिली, अब ठीक याद नहीं है। विज्ञजन-तत्त्व की वैसी बात जानकर जिस-तिसको बताने लगें, यह असम्भव है। मैं समझता हूँ, इस विषय में मैं अपने किसी तत्कालीन समवयस्क का ही ऋणी हूँ।

मैं नहीं चाहता, उसे छिपा जाऊँ। लक्ष्मी का वह अटूट-भण्डार किसी लता के छोटे टुकड़े में सुरक्षित था। बस उसी को खोज लेना चाहिए। लता वह होनी चाहिए ऐसी, कि वृक्ष पर बायें से दायें गई हो। मुझे उसमें यह गुण बताया गया था कि जिस वस्तु के नीचे उसे रख दिया जायगा, कितना ही खर्च किये जाने पर वह चुकेगी नहीं। ऐसी वस्तु के सहारे दस-पाँच रुपये की थैली में से निकाल-निकालकर लाखों तक खर्च किये जा सकते हैं।

आस-पास के बाग-बगीचों में इस लक्ष्मी-लता की खोज करने मैं निकला। कितने ही लता-कुञ्ज देख डाले। कितने ही छोटे-बड़े वृक्षों के निकट खड़े होकर खुली साँस ली। घर के बाहर का भाग भी इतना सुन्दर है, इसका अनुभव पहले-पहल तभी हुआ। कुछ दोहे-चौपाइयाँ कण्ठस्थ थीं, चलते-जाते उन्हें गुनगुनाया। उनकी कविता-हृदय के किसी अज्ञात प्रान्त में मेरे बिना जाने झंकृत हो उठी। उस समय मुझे पता तक नहीं चला कि लक्ष्मी की ओर जाते-जाते अचानक सरस्वती की ओर उन्मुख हो गया हूँ। लक्ष्मी-लता की मेरी खोज जैसे कुछ शिथिल पड़ गई। फिर भी कई लताएँ तोड़-तोड़कर देखीं। कुछ लताओं को उनकी स्वाभाविक गति के विपरीत मोड़कर उन्हें दो-एक दिन में अपने काम के अनुरूप कर लेने की युक्ति लड़ाना भी मैं नहीं भूला। लताओं की परीक्षा घर लौटकर करना था। मेरे पास दस-पाँच रुपये की एक निजी थैली थी। परन्तु उसके नीचे उन लताओं को रखकर उनके गुण-दोषों की जाँच करना मैंने ठीक नहीं समझा। अस्त्र-चिकित्सा की साधना का काम केले के छिलके अथवा ऐसे ही किसी पदार्थ के ऊपर करना निरापद समझा जाता है। मैंने भी उस समय इसी समझदारी से काम लिया। अपनी प्रयोग-शाला में भरा हुआ लोटा लताओं के ऊपर रख देता और पानी नीचे ढरकाने लगता। लताओं के लिए लज्जा की बात होने पर भी यहाँ अब यह मुझे कहना पड़ेगा कि उनमें से किसी में वह शक्ति न निकली, जिसके कारण लोटा सदैव भरा-का-भरा रह जाता।

मेरा मिट्टी का हाथी मिट्टी का ही बना रहा, उसमें प्राण-सञ्चार नहीं हो सका; मेरा पीतल का लोटा पीतल का ही बना रहा, उसमें से अक्षय निर्झर-धारा नहीं बह सकी। परन्तु प्रसन्नता की बात है, इस बार मेरे हाथ एक दूसरी वस्तु आ गई थी। उस

वस्तु की परीक्षा आज भी मेरे द्वारा चलती जा रही है। शंका की बात इतनी ही है कि दो-दो असफलताओं के साथ उसका सम्बन्ध है। बाग-बगीचों के लता-कुञ्जों में कण्ठस्थ दोहे तथा चौपाइयों की निस्सङ्कोच आवृत्ति करते-करते एक दिन ऐसा कुछ बोध हुआ कि कविता करना बहुत आसान है। अनेक दोहे चौपाइयों की रचना मैंने उसी समय कर डाली। कुछ नये छन्द भी अपने-आप तैयार होकर मेरे मुख से निकल पड़े। जोर-जोर से कहकर देखा,- इनसे भी हृदय में वही आनन्द उठता है, जो उन सीखे हुए छन्दों में था। मेरी वह कविता लिपिबद्ध न हो सकी। कुएँ के पानी की तरह परिश्रम से खींचकर उसे किसी पात्र में भरकर रखने की आवश्यकता थी भी नहीं। प्रतिपल बहते हुए उस ताजे निर्झर-नीर से किसी समय भी तृप्त हुआ जा सकता था। अर्थ का बोझ लेकर वह नहीं चली थी। इसी कारण अपने में से कुछ खो जाने की चिन्ता उसे छू तक न सकी।

अपना यह आनन्द अपने तक ही सीमित रखना बहुत कठिन होता। छन्दों का वह प्रवाह एक बार, दो बार, और बार-बार बाहर निकलकर दूर-दूर तक फैलने के लिए उतावला हो उठा। उन दिनों मेरे एक समवयस्क सम्बन्धी आकर मेरे क्रीड़ा-सहचर बने हुए थे। कविता करने की वह सरल विधि पहले-पहल उन्हीं को मैंने बताई। उन्होंने कोई आश्चर्य प्रकट नहीं किया। बोले- "ऐसा ही मुझे भी होता है। स्नान करके जब मैं हनुमान-चालीसा का जुबानी पाठ कर चुकता हूँ, तब नई-नई चौपाइयाँ इसी तरह मेरे मुख से भी निकलने लगती हैं।" उनके लिए कविता करना मेरी अपेक्षा भी सहज निकला। उनमें प्रतिभा की मात्रा मेरी अपेक्षा अधिक थी, यह बात मुझे बहुत दिनों बाद मालूम हो सकी। एक बार वे अच्छी तरह पागल हो चुके हैं। पागलपन और प्रतिभा का निकट सम्बन्ध एक माना हुआ तथ्य है। मालूम

नहीं, यदि कभी मेरी प्रतिभा इस उच्चकोटि तक पहुँची हो। इसका पता मेरी अपेक्षा मेरे मित्रों को अधिक होगा।

इसी समय के आस-पास भैया की कोई कविता किसी पत्र में छपी हुई देखने को मिली। कविता क्या थी, किस विषय से उसका सम्बन्ध था, यह मुझे कुछ याद नहीं। कोई कहना चाहे तो कह सकता है, उसे ठीक-ठीक मैं पढ़ भी नहीं सका। पर हाँ, नीचे छपा हुआ लेखक का नाम मैंने पढ़ा था; एक दो बार नहीं बीसियों बार। मेरे लिए उस नाम में ही कविता का समस्त माधुर्य जैसे निचोड़कर भर दिया गया हो। वह नाम भैया का था, और किसी का नहीं। नाम के साथ ठिकाना भी लिखा हुआ था। ऊपर से किसी के द्वारा हाथ से लिखा नहीं, छापे के अक्षरों में ही छपा हुआ। उस नाम में 'शरण गुप्त' तो मेरा निज का ही था। आधे से अधिक नाम का गौरव मुझे अपने-आप तत्काल मिल गया। अखबार में इस तरह छपने का गौरव उस समय मेरे और किसी परिचित के भाग्य में न था। मैं बहुत ही प्रसन्न हो उठा। मैंने घर के एक पुराने कर्मचारी को भैया की वह कविता और उसके नीचे छपा हुआ उसका नाम हुलसकर दिखाया। मुझे विस्मय हुआ, व बहुत उत्साह प्रकट नहीं कर सके। बोले—"अखबार वालेको कुछ देना पड़ा होगा।" मुझे बुरा मालूम हुआ। कुछ दे-दिलाकर भैया ने अपनी कविता छपाई है, यह बात कुछ खटकने वाली जान पड़ी। तीव्र शब्दों में तत्काल मैंने उनका प्रतिवाद किया।

ऐसा होते हुए भी एक बात तो थी। कुछ दे-दिलाकर भी मेरी कविता उस समय किसी पत्र में छप सकती, तो अपने लिए इसमें मुझे कोई हिचक न होती। अखबार के किसी कार्यालय में मेरे नाम से कविता लिख देने की फीस भी यदि अलग से चाही जाती, तो इसके लिए भी उस समय मैं सहर्ष तैयार हो सकता

था। यह दूसरी बात है कि अधिक देने की शक्ति मुझ में न हो।

अपना छपा हुआ नाम देखने के लिए मैं बेतरह उत्सुक हो उठा। मदरसे के दूसरे दरजे में उस समय मेरी पढ़ाई चल रही थी। जो पाठ्य पुस्तक निर्धारित थी, उसमें कहीं मुझे अपना नाम नहीं दिखाई दिया। मेरे लिए यह असन्तोष की बात थी। इस असन्तोष का एक विशेष कारण है। रहीमबख्श नाम का मेरा एक सहपाठी था। उसके लिखे हुए कितने ही दोहे पुस्तक में छपे थे! 'ताकी महिमा ना घटी पर-घर गये रहीम' को अन्तिम पद पर जोर देकर वह पढ़ता और प्रसन्न होता मेरी ओर देखकर। एक दूसरा साथी था छिमाधर। वह भी मुझे सुनाकर पढ़ता— 'जाके हिरदे है 'छमा' ताके हिरदे आप।' निराश होकर पुस्तक के पन्ने मैं भी उलटता। ढूँढ़-खोजकर 'राम' का नाम उन्हें दिखा भी देता। राम नाम की महिमा अपार है, मैं मानता हूँ। परन्तु उस समय तो सीता माता ही लाज रख सकती थीं। मैं हतप्रभ हो उठता। लाचार होकर कहता—"मेरा नाम 'रामायण' में छपा है; यह पुस्तक भी कोई पुस्तक है!" उदाहरण मुझे याद था—

'सियाराममय सब जग जानी, करौं प्रनाम जोरि जुगपानी।'

इन चौपाइयों तक पहुँचने के लिए मैं कितनी ही बार रामायण का परायण प्रारम्भ कर चुका था। परन्तु मदरसे में रामायण ले जाना असम्भव था और मुझे हारकर चुप रह जाना पड़ता।

अब मेरे लिए आवश्यक था कि अपनी कविता मैं स्वयं लिखूँ। रामायण तक का प्रमाण न मानने वालों को बिना इसके ठीक नहीं किया जा सकता था। लिखे हुए की सनद ही पक्की सनद है। एक दिन मैंने कहा—"आज मदरसे न जाकर घर पर ही कविता लिखूँगा। रविवार की छुट्टी तक इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए रुका रहना असम्भव था।

एक डर था। कोई कहीं पूछ बैठे कि आज पढ़ने के लिए क्यों नहीं गये, तब ? घर में किसी को पता न था कि आज मैं कितना बड़ा काम करने जा रहा हूँ। उस विषय में किसी से कुछ कह नहीं सकता था। कहता भी तो, मैं जानता हूँ, किसी को उस कार्य की गुरुता में विश्वास न होता। बीमारी का बहाना करने का उपाय भी सामने न था। उस समय आजकल की भाँति किसी समय भी यह मेरी सेवा करने के लिए तत्पर न थी। छुट्टी मनाने के लिए आह्वान करने पर भी इसके दर्शन तक न होते थे। मैंने निश्चय किया, आज किसी के सामने पड़ूँगा ही नहीं।

दोपहर का भोजन करके घर में अपनी-अपनी जगह जब सब कोई आराम करने लगे, सब ओर ग्रीष्म की दोपहरी का सन्नाटा साँ-साँ करने लगा, तब एक अँधेरे कमरे में कागज पेंसिल लेकर मैं लिखने बैठा। बैठ जाने पर पहली बात यह जान पड़ी कि जुबानी कविता कर लेना जितना आसान है, उसे लिखना उतना ही कठिन। कागज की बेड़ी पहनना भी जैसे उस सुकुमारी को सह्य नहीं। किसी तरह कुछ देर जमकर छः पंक्तियाँ उस दिन लिख ही डालीं। एक दोहा और चार पंक्तियों का एक दूसरा छन्द। लिखकर उस समय भी वही आनन्द हुआ, जो आज की अपनी किसी सुन्दर रचना को पूरा कर चुकने पर पाता हूँ। कविता लिखने का यही तो बड़ा सुख है। ऐसी कुछ प्रतीति हुई कि सरस्वती देवी ने अपने मन्दिर में भीतर चले आने के लिए आज्ञा दे दी है। उन पंक्तियों में वन्दना भी मैंने सरस्वती और गणेश की ही की थी। इन्हें उस समय मैं दम्पति-युगल समझता था। क्या ठीक, मेरी इस बाल-बुद्धि पर इन महान् देवताओं ने वात्सल्य पूर्वक उस दिन मेरी ओर हँस दिया हो! तुक भी ठीक-ठीक बैठ गई थीं। पहले दोहे के अन्त में 'कर जोर' और 'मोर' की तुकें बैठाकर ही मैंने समझ लिया था कि कार्य सुचारु रूप से

सम्पन्न हो गया है। एक अच्छे कागज पर अक्षर कुछ बिगाड़कर, पढ़े-लिखों के जैसी लिपि में कविता की प्रतिलिपि भी तत्काल कर डाली। भारी काम कर चुका था, इसलिए नाम में भी कुछ भारीपन लाकर नीचे लिखा, 'सियाराम कृत'। इस तरह उस दिन सब-कुछ अच्छा-ही-अच्छा होता गया !

कविता तो तैयार हो गई, अब तैयार करने से भी कठिन एक समस्या सामने थी। वह थी, उसके प्रकाशन की बात। कविता लिखना ही व्यर्थ था, यदि वह कवि के बस्ते के भीतर ही बन्द रहकर बाहर के प्रकाश से वंचित रहती। मदरसे के सहपाठियों की बुद्धि पर से मेरा विश्वास उठ गया था। वैसी अरसिक मण्डली मेरी कविता समझेगी भी, इसमें मुझे पूरा सन्देह था। भैया की कविताएँ अखबार वाले बिना कुछ भेंट लिये ही छापा करते थे। अतः मेरी कविता की गुण-परीक्षा उन्हीं के द्वारा हो सकती थी। परन्तु वह उन्हें दिखाई जाय तो कैसे ? इस समस्या की पूर्ति मेरे लिए भारी हो उठी। बहुत लोग मेरे इस संकोच को समझ न सकेंगे। अपनी नववधू के सम्बन्ध में बड़ों से चर्चा करने में हिन्दू बालक, बालक क्या तरुण भी जिस संकोच का अनुभव करता है, वैसा ही कुछ मुझे भी था। आज भी मैं उसे पूर्णतः दूर नहीं कर सका हूँ। 'आर्द्रा' की समस्त कविताएँ लिखने के समय तक उन्हें दिखाकर ठीक करने के लिए मुझे बहुत-कुछ ऐसी ही झिझक उठानी पड़ती रही है। बहुत सोच-विचार के बाद एक युक्ति निकली। ऐसी अच्छी कि थोड़े-से सामयिक हेर-फेर के साथ अभी कुछ ही समय पूर्व तक उसे ही मैं बर्तता रहा हूँ भैया की अनुपस्थिति में अपनी वह कविता उनकी बैठक के पास छोड़कर, चुपचाप मैं वहाँ से खिसक गया !

यह कठिन प्रतीक्षा का समय था। बाहर के सम्पादकों के पास अपनी रचनाएँ भेजकर उनकी स्वीकृति का पत्र पाने के लिए,

बाद में जिस बेचैनी का अनुभव मुझे बहुधा करना पड़ा है, उसका पहला परिचय मुझे घर में ही पहली बार हुआ। जाने कितने दिन आए और चले गए, पर मुझे पता नहीं पड़ा कि मेरी रचना यथास्थान पहुँच गई है। हो सकता है, उसे पोस्ट करने की मेरी विधि में ही कोई खराबी हो। पर उनका भी कुछ दोष होना चाहिए। उन दिनों सम्भवतः उनके भीतर का तरुण कवि जागकर उठ बैठा था। कवि में यही एक बड़ा दोष होता है कि जाग उठने पर वह अपने भीतर का ही देखना-सुनना पसन्द करता है, बाहर से जैसे उसे कोई सरोकार नहीं रहता। धीरे-धीरे मुझे विश्वास जमने लगा कि वह रचना ना-मंजूर हो गई है। सन्तोष और सुख की बात इतनी थी कि किसी सहपाठी को मेरी इस असफलता का पता न था।

उस दिन मेरा सौभाग्य अचानक मेरे अनुकूल दिखाई दिया। मेरे द्वितीय अग्रज नन्ना मेरे ऊपर प्रसन्न हुए, मेरी सेवा-परायणता से। सेवा मेरी इतनी थी कि आवश्यकता पड़ने पर दौड़कर मैं पानी का गिलास भर लाता था, पान लगाने में कत्थे-चूने का अनुपात ठीक रखता था और जब मुन्शीजी की मर्जी हुई तो उनके लिए शरबत बनाकर भीतर से लाने में भी देर न करता था। मेरी प्रशंसा हो चली। नन्ना ने कहा—"ऐसा-वैसा नहीं, सियाराम कवि भी है।" भैया ने कहा—"अच्छा! मुन्शीजी ने भी प्रसन्नता प्रकट की। मैं अपराधी की भांति सामने संकुचित खड़ा था। मुझे आज्ञा मिली—'मैं अपनी कविता लेआऊँ।'

कविता देखकर भैया ने कुछ विशेष प्रसन्नता प्रकट की हो, ऐसा नहीं जान पड़ा। नाखुश नहीं हुए, यही मुझे बड़ी बात जान पड़ी। उन्होंने कई भूलें छः पंक्तियों के भीतर ही खोज निकालीं। पास बैठकर समझाया। पूछा—"छन्द की मात्राएँ गिनना जानते हो? दोहे की एक पंक्ति में चौबीस होती हैं।" क्या मुसीबत

की बात थी, हिसाब-किताब यहाँ भी आ पहुँचा। मदरसे में कभी-कभी चार हिसाबों में से पाँच तक मेरे गलत निकल आते थे! भाषा एवं दूसरे विषयों के कारण ही मैं वहाँ अपनी प्रतिष्ठा बनाये था। मात्राएँ गिनना भला मुझे कहाँ से आ सकता था। तब यह विधि मुझे समझाई गई।

अब संशोधन की बारी थी। एक दूसरे कागज पर भैया ने थोड़ी ही देर में मेरी कविता अपने हाथ से लिखकर मुझे दी। देखा, इन पंक्तियों में मेरा अपना क्या है? वह न होने के बराबर था। पूरी कविता कुछ-की-कुछ हो गई थी। उसमें मेरा अपना कुछ नहीं था कि जिसके बल पर मैं साथियों में घमण्ड दिखा सकता। तुकें मेरी अपनी रहतीं, तब भी कोई बात थी। जिन तुकों को मिलाकर कविता लिखते समय मुझे अपने कवित्व का प्रथम गौरव-बोध हुआ था, वे तक हटा दी गई थीं। सब मिलाकर मैंने अनुभव किया, प्रारम्भ कुछ बहुत ठीक नहीं रहा।

यहीं उस बचपन में मैंने पहली भूल की। मेरा प्रारम्भ बहुत ही शुभ हुआ था। मेरी कविता की मिट्टी का वह हाथी उस दिन सजीव हो गया था। प्रारम्भ में ही उन हाथों का प्रसाद पाकर मेरी रचना कुछ-की-कुछ हो गई है। वह प्रसाद निरन्तर मुझे प्राप्त है। उनके श्रीचरणों में मेरा नम्र प्रणाम पहुँचे, इन समस्त पंक्तियों की सबसे बड़ी बात यही हो।

२०

श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी

श्री वाजपेयी जी सफल कथा-लेखक और उपन्यासकार के रूप में समस्त हिन्दी-पाठकों के दिल में उतर चुके हैं। आपकी कहानियों में जिन पात्रों तथा घटनाओं का चित्रण हमें मिलता है, उनमें हमें अपने समीपवर्ती समाज एवं परिस्थितियों की यथार्थता स्पष्ट परिलक्षित होती है। जीवन की यथार्थ अनुभूतियों से अनुप्राणित होकर हीं उन्होंने अपनी कहानियों तथा उपन्यासों के पात्रों का सृजन किया है। वाजपेयी जी ने कहानी तथा उपन्यासों के अतिरिक्त कविता के क्षेत्र में भी अनन्य देन दी है। आपकी कविताएँ भी उतनी ही प्रौढ़ और सरस होती हैं जितनी कि कहानी तथा उपन्यास। आपकी 'मिठाई वाला' कहानी कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'काबुली वाला' का स्मरण दिलाती है।

मेरा निर्माण

मेरा जन्म आश्विन शुक्ला सप्तमी सम्वत् १९५६ वि० को मंगलपुर (ज़िला कानपुर) में हुआ। पिता जी बिलकुल एक अपढ़ कृषक थे। किन्तु मामा संस्कृत भाषा के पण्डित और कर्म-काण्ड के आचार्य थे। पिता जी मामा के यहाँ बस गए थे। मेरा बचपन उन्हीं के तत्त्वावधान में व्यतीत हुआ। गाँव की पाठशाला में पढ़ना शुरू हुआ। घर पर मामा जी संस्कृत के श्लोक याद कराते और सुस्वर से सुनकर प्रसन्न होते। उन्हीं के चरण-चिह्नों पर मेरी तथा बड़े भ्राता पण्डित रामभरोसे की शिक्षा चल रही थी। किंतु जब मेरा सात वर्ष का भी लघु जीवन पूरा न हो पाया था कि मामाजी का स्वर्गवास हो गया। अब गृहस्थी का भार पड़ा भ्राता जी पर। उनका शिक्षा-क्रम भंग हो गया और जीवन-निर्वाह के साथ-साथ मेरी छोटी बहन के विवाह-व्यय का भार जो ऊपर आ पड़ा तो मेरा भी विधिवत् अध्ययन केवल हिन्दी मिडिल तक होकर सदा के लिए रुक गया। मैं अपने गाँव की ही अपर-प्राइमरी पाठशाला में अध्यापक हो गया। किन्तु अपनी इस लघु-परिधि में अधिक दिन तक रहना मेरे लिए असह्य हो उठा। उन दिनों होमरूल-लीग का आन्दोलन चल रहा था। उसी में भाग लेने के सिलसिले में गाँव का शिक्षण-कार्य त्यागकर मैं कानपुर आ बसा और वहाँ होमरूल-लीग की लाइब्रेरी तथा रीडिंग रूम में लाइब्रेरियन पद का कार्याधिकारी हो गया। हिन्दी-साहित्य का अध्ययन करने का सुअवसर मुझे यहीं मिला और यहीं से—१९१८ ई० में कुछ लिखने की प्रेरणा मुझमें उत्पन्न हुई।

पर उस समय मैं प्रायः कविताएँ ही लिखा करता था। बाद

के अनुभवों ने कविता की ओर से मुझे गद्य-लेखन की ओर मोड़ दिया। वेतन केवल पन्द्रह रुपये मासिक मिलता था। शहर का रहना और माता, पत्नी, बहनोई और अपना निर्वाह करना। सन् १९१९ में बड़े भाई का स्वर्गवास हो गया। तब मुझे लीग की नौकरी करते हुए पुस्तकों का गट्ठर कंधे पर लादकर उनके विक्रय का काम करके किसी तरह काम चलाना पड़ा। ४ वर्ष के कार्य-काल के अनन्तर लीग भी टूट गई। तब मैंने स्वदेशी स्टोर खोला, जिनमें पत्नी के सारे आभूषण पूंजी रूप में लगा दिए। परन्तु ६ मास भी दुकान खोले न हुए थे कि उसमें चोरी हो गई और मेरे खाने का भी कोई ठिकाना न रहा। तब एक बैंक में खजांची की जगह पर अप्रैंटिस रहा। पर जगह न मिलने पर वहाँ से भी निराश होकर बैठ रहना पड़ा। इस सिलसिले में मैंने एक डिस्पेंसरी में कम्पाउंडरी की और साथ ही एक प्रेस में प्रूफ रीडरी, बाद में कम्पाउंडरी छूट गई और प्रेस से निकलने वाले पत्र 'संसार' में पहले सहकारी सम्पादक और फिर मुख्य सम्पादक हो गया। फिर दैनिक 'विक्रम' तथा मासिक 'माधुरी' के सम्पादन-विभाग में कार्य किया। तदनन्तर चार वर्ष हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में सहायक मन्त्री रहा। सत्रह वर्ष तक पुस्तक-विक्रय तथा कुछ दिन प्रकाशन का कार्य किया। इधर सोलह वर्षसे स्वतंत्र रूप से लेखन-कार्य कर रहा हूँ।

अंग्रेजी भाषा व साहित्य का ज्ञान मैंने अनियमित रूप से, समय-समय पर ट्यूटरों द्वारा घर पर प्राप्त किया। किन्तु स्वाध्याय का बल मेरे पास उतना पुष्ट नहीं, जितना जीवन की विविध धाराओं, स्थितियों और अनुभूतियों का है। मैंने पैसों से भरे थैले कंधों पर कोसों लादकर देहात के बाजारों की शराफ़ी की, घूम-फिरकर पुस्तकें बेचीं। लेक्चरबाजी की। गाँव में अवसर आने पर आवश्यकतावश गाय-भैंस, बैल और बकरियाँ चराईं और

खलिहान में दायँ और उड़नई का भी काम किया। कानपुर में, मौक़ा पड़ने पर, लगातार पाँच-पाँच मील तक, मित्रों तथा आत्मीयजनों की महायात्रा पर, तीन-तीन मन वज़नी अर्थी को कंधा दिया। निदान, साहित्य को मुख्यतया मैंने पुस्तकों में न पाकर अपने सतत अवलोकन से पाया है।

सन् १९२०–२१ की एक घटना है। उस समय तक मैं अंग्रेज़ी नहीं जानता था। तो भी मैंने मासिक 'प्रभा' के लिए एक लेख लिखा—"विचार स्वातंत्र्य का व्यावहारिक रूप।" तब 'प्रभा' के सम्पादक थे, हिन्दी के ओजस्वी और कर्मठ पत्रकार श्रीकृष्णदत्त पालीवाल। लेख छप जाने पर मैं जो उनसे मिला, तो उन्होंने कहा—"जान पड़ता है जान स्टुअर्ट मिल की 'लिबर्टी' आपने बहुत ध्यान से पढ़ी है।" मुझे बड़ा संकोच हुआ। मैंने कहा—"मैं उसे समझ नहीं पाता। मेरी अँग्रेज़ी शिक्षा हुई नहीं है।" उत्तर में उन्होंने कहा—"मुझे विश्वास नहीं होता कि बिना उच्च शिक्षा प्राप्त किये कोई व्यक्ति ऐसा लेख लिख सकता है।" जीवन में यह पहला अवसर था। जब मुझे इस बात पर विश्वास हुआ कि मैं भी साहित्य की कुछ सेवा करने का अधिकारी हूँ। आज तो ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं है जो प्रायः कहा करते हैं कि आपकी अमुक कहानी विश्व-साहित्य की वस्तु है। भावुकता के लिए मैं बदनाम हूँ, यद्यपि अपने इस रोग पर, मैं सोचता हूँ कि, मैंने अब बहुत-कुछ विजय प्राप्त कर ली है। ख़ैर, सन् २६ की बात है, मेरी दो वर्ष की कन्या परलोक सिधारी। उस समय हम लोगों के जीवन की वह एक-मात्र निधि थी। इसका एक कारण यह भी था कि मेरे माता-पिता की एक-मात्र अभिलाषा उनके जीवनांत के साथ गई कि मेरे कोई सन्तान होती और वे उससे वात्सल्य सुख पाते। अस्तु, कन्या के गत हो जाने पर मुझे इतना दुःख हुआ कि मैंने पत्नी से कहा कि मैं तो तैयार हूँ, तुम भी यदि

सहमत होओ, तो चलो—हम लोग गंगा जी में डूब मरें। पर वह इस पर सहमत नहीं हुई। आज अपनी इस भावुकता पर मुझे खुद हँसी आती है।

ग्यारह वर्ष की अल्प वय में मेरा विवाह हुआ। १३ वर्ष की अवस्था में मुझे स्वावलम्बी हो जाना पड़ा। इसीलिए गाँव में रहना अधिक हो नहीं सका। मैं प्रायः सपत्नीक शहरों में रहा; किन्तु मेरे पिता गाँव में ही रहा करते थे। गाँव-घर से दूर रहने के कारण मुझे इस बात की सदा चिन्ता रहा करती थी कि कहीं ऐसा न हो कि अंतिम समय में पिता जी का अन्त्येष्टि संस्कार तक न कर पाऊँ। ऐसा सोचने का एक-मात्र कारण यह था कि बड़े भाई, भाभी तथा माता का स्वर्गवास प्रायः ऐसे ही अवसरों पर हुआ, जब मैं नियत समय पर गाँव में पहुँच कर उन्हें देख नहीं सका। पिता जी कभी भी मेरे साथ रहना स्वीकार नहीं करते थे और मुझे उनके लिए सदा चिंता बनी रहती थी। मन-ही-मन मैं ईश्वर से यह प्रार्थना किया करता था कि प्रभो, मेरी इस स्थिति का तो अवश्य ध्यान रखना।

यहाँ दो शब्दों में अपने विश्वास की बात भी कह दूँ। संस्कारवश प्रकृति से मैं आस्तिक तो हूँ; किंतु ईश्वर की उपासना पर मेरी आस्था नहीं। मैं तो आचार-धर्म का कायल हूँ। नाम-स्मरण तथा पूजा आदि करना मुझे पसन्द नहीं। इस अखिल सृष्टि को सुन्दर रूप देने में जो भी कार्य मानवता के विकास के लिए किये जायँ, वे सब ईश्वरोपासनामय हैं। 'सुख में जो सुमिरन करे, दुख काहे को होय' की पद्धति मुझे स्वीकार नहीं। नित्य प्रति भगवान् से प्रार्थना करना उसे व्यर्थ में कष्ट देना है। साधारण आवश्यकताओं और समस्याओं का समाधान करने योग्य तो उसने हमें बना ही दिया है; फिर नित्य-प्रति उसे तंग करने की आवश्यकता ही क्या है? और रोजाना उससे याचना करने में

उसी का अपमान होता है। क्योंकि आखिर हम सन्तान तो उसी की हैं। इससे उसके गौरव को धक्का लगता है। अस्तु, हमें उसकी याद तभी करनी चाहिए—निवेदन सामने करना हमारे लिए तभी उचित है, जब हम पर कोई विशेष संकट आये।

सन् १९३० का वह दिन बड़े महत्त्व का है। पिता जी की बीमारी का समाचार पाकर मैं पत्नी-सहित घर को चल दिया। तीन दिन से वे बीमार थे। पहुँचने पर मुझे देखते ही रो पड़े। पड़ोसियों से पूछ-ताछ करने पर पता चला कि कल हालत ज्यादा खराब थी। आज तो अब कोई चिन्ता की बात नहीं रह गई है। मेरा हाल-चाल पूछकर वे बोले—"अब मैं तुम्हारे साथ वहीं (इलाहाबाद) रहूँगा। अब तक मैंने तुम्हारी बात नहीं मानी, किंतु अब मैंने ऐसा तय कर लिया है।" उस दिन उनकी हालत अच्छी रही पर रात में थोड़ा ज्वर आया। ग्यारह बजे के लगभग तक मेरे परम आत्मीय मामा शिवनाथप्रसाद अग्निहोत्री मेरे घर पर ही रहे। चलते समय उन्होंने भी कहा—"ज्वर साधारण है, सवेरे तक शांत पड़ जायगा। चिन्ता का समय तो निकल गया।" किंतु सूर्योदय के पश्चात् स्थिति चिन्त्य हो गई और ज्वर सदा के लिए शांत पड़ गया और दोपहर के बाद, गाँव-पड़ोस के प्रतिष्ठित नवयुवक बंधुओं के साथ, शिवनाथ मामा के नेतृत्व में, उनकी अर्थी औरैया (इटावा) के यमुना-घाट पर ले जाकर दूसरे दिन प्रातःकाल मैंने उनका विधिवत् संस्कार किया।

इस घटना से दो निष्कर्ष निकलते हैं। एक तो यह कि ऐसे अवसर पर मेरे सपत्नीक आ पहुँचने के कारण पिता जी प्रसन्न अत्यधिक हुए थे। सम्भव है, उन्होंने स्वयं भी अपनी मृत्यु की कामना की हो। सोचा हो, इससे अच्छा अवसर अब फिर कब आयगा! दूसरी यह कि परम पिता ने भी मेरा निवेदन स्वीकार कर लिया। इस स्थल पर मैं यह प्रकट कर देना चाहता हूँ कि

ईश्वरत्व के संबंध में इस प्रकार के और भी मेरे बहुत से अनुभव हैं। कभी अवसर मिला, तो उनको भी प्रकट करूँगा।

अब तक मैंने लगभग चार सौ कहानियाँ लिखी हैं, जिनमें से कुछ थोड़ी कथाओं के ही सात कथा-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। १२ उपन्यास (तेरहवाँ आजकल चल रहा है), एक नाटक, दो कविता-संग्रह (विविध कवियों के परिचय तथा आलोचना सहित) तथा लगभग १४ विविध विषयक अन्य छोटी-मोटी पुस्तकें।

मैं सत्य के सौन्दर्य का पुजारी हूँ। मधुर सत्य का नहीं, कटु सत्य का भी। सत्य का ही दर्शन, चिन्तन और मन्थन मैं साहित्य में करना और देखना चाहता हूँ। मेरी धारणा है कि हिन्दी-साहित्य में पूर्ण रूप से सत्य की प्राण-प्रतिष्ठा होने में अभी देर है। आज तो हमारे साहित्य पर Aristocracy का राज्य चल रहा है। जर्जर, मिथ्या, अगतिमूलक, रूढ़ि-ग्रस्त और आधार-हीन आदर्शों के विरुद्ध साहित्य-सृष्टि करना आज के साहित्यकार के लिए मानो एक अपराध है। आज तो हिन्दी में ऐसे-ऐसे पंडितप्रवर सम्पादकों और साहित्य के कर्णधारों का राज्य चल रहा है, जिन्हें साहित्य के सम्बन्ध में एक शब्द न तो लिखने का शऊर है, न बोलने का। इण्टरमीजियेट, बी० ए० तथा एम० ए० की हिन्दी-कक्षाओं के अध्यापक वर्ग में ही नहीं, उनके पाठ्य-क्रम-निर्णायकों में भी आज उन्हीं आचार्यों की तूती बोलती है, जो विश्व-साहित्य की आधुनिक प्रवृत्तियों के नाम पर कोरे हैं। आपने पूछा है कि आप हिंदी में और क्या चाहते हैं? क्या मैं स्पष्ट शब्दों में आपसे यह कहूँ कि मानवता की रक्षा और उसकी उन्नति के नाम पर मैं उस प्रभुता का विध्वंस चाहता हूँ, जिसने हिन्दी भाषा को क्षमता की उस सीमा तक ले जाने से रोक रखा है, जो आज उसके पाठकों की ज्ञान-पिपासा को शान्त करने में पूर्ण समर्थ होती और फलतः हिन्दी भाषा-भाषी सारा तरुण-

समाज आज अपने आगे उस स्वर्ण युग को देखता, जिसमें मनुष्य को यह शिकायत नहीं रह सकती कि वह जो चाहता है उसे कर नहीं सकता। अपनी क्रियात्मक कल्पना-शक्ति को वह सर्वथा सबल और सजग देखता। उसकी आँखों में आँसू अवश्य होते पर वे खून के न होकर, होते आनन्द के। वह हँसता अवश्य, किन्तु प्रमाद से नहीं, हृदय के कोने-कोने के पुलक-हास से। वह मरता अवश्य, किन्तु आश्रय-हीनता से एड़ियाँ रगड़-रगड़कर नहीं, रोटी और सैक्स की मरभुखी से रक्त-मांस सुखा-सुखाकर नहीं, अस्थियाँ गला-गलाकर भी नहीं, वरन एक प्राकृतिक स्वाभाविक मृत्यु से अपना पूर्ण समर्थ सफल दीर्घ जीवन पाकर, इस जीवन-भर का सारा जमा-खर्च बराबर करके। तब उसकी मृत्यु कुटुम्ब, वर्ग, समाज और देश के लिए चिन्ता का विषय न होकर होती निश्चिन्तता का कारण।

मुझे सबसे पहले प्रभावित किया टैगोर ने, फिर शरच्चन्द्र से मैंने नारी-जीवन का अध्ययन करनेमें सुविधा पाई। रोमांटिक भी शायद इसी कारण बना। उसके बाद रशियन कलाकार डोस्टोवस्की के मनोविश्लेषण ने मुझे प्रभावित किया। आज भी वह मेरा Favourite है, यद्यपि प्रगति के पंथ में मुझे गोर्की और यथार्थवाद में डी० एच० लारेंस अधिक भाते हैं।

साहित्य के कल्याण की दृष्टि से दलबन्दी को मैं एक संक्रामक रोग मानता हूँ। जब कभी मुझे लेखक-जीवन से विरक्ति होती है, तब कुछ ऐसे ही कारणों से, जिनका सम्बन्ध दलबन्दी से रहता है। समालोचना के क्षेत्र में जितना भी अत्याचार विगत कुछ वर्षों में हिन्दी के रचनाकारों के साथ हुआ है, उसका सारा उत्तरदायित्व हिन्दी मासिक-पत्रों के सम्पादकों पर है। उनका संकुचित दृष्टिकोण, उनकी असावधानी और कायरता रचनाकारों के लिए हिंसक वृत्ति बनती आई है। उसी का यह परिणाम है कि

निरन्तर स्वाध्याय, आत्म-चिन्तन तथा सृजन-कार्य करने में लीन रहने वाला हिन्दी-साहित्यकार आर्थिक दृष्टि से आज इतना भी समर्थ नहीं है कि निश्चिन्तता पूर्वक अपना कार्य कर सके। संघर्ष की चक्की में पिसकर वह पागल हो जाता और जीवन के प्रति असह्य बनकर वह आत्म-घात नहीं कर लेता, यही गनीमत है।

२१

श्री उपेन्द्रनाथ अश्क

श्री अश्क जी ने अपने साहित्यिक जीवन का प्रारम्भ उर्दू कविता से करके आज हिन्दी के उत्कृष्टतम नाटककारों, कथा-कारों तथा उपन्यास-लेखकों में एक विशेष स्थान बना लिया है। आपकी प्रतिभा बहुमुखी और अजस्र प्रवाहमयी है। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक तथा एकांकी आदि सभी क्षेत्रों में आपने अपनी प्रतिभा का समीचीन परिचय दिया है। उर्दू भाषा और साहित्य से मूलतः सम्बन्धित होने के कारण आपकी भाषा में एक विशेष प्रकार की रवानी और माधुर्य यत्र-तत्र बिखरा दिखाई देता है। अश्क जी ने अपने साहित्यिक जीवन को जिन विषम परिस्थितियों से निकाला है, वह उनकी रचनाओं से भली प्रकार प्रकट होता है। आज जिन उपन्यासकारों का नाम हिन्दी-पाठकों के मन-प्राण पर छाये हुए हैं। उनमें श्री अश्क जी अपना विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

मेरे प्रथम प्रयास

आज जब कि मुझे लिखते हुए, अथवा यों कहा जाय कि मेरी कृतियों को छपते हुए (क्योंकि लिखना तो छपने से पहले भी होता था) लगभग २४ वर्ष हो गए हैं, यह कहना कठिन है कि पहले मैंने कविता लिखी अथवा कहानी। इतना स्मरण है कि झुकाव मेरा पहले-पहल कविता ही की ओर था और अपने साहित्यिक प्रयास मैंने पहले-पहल काव्य ही के रूप में आरंभ किए।

इन चौबीस वर्षों की पूँजी पर जब मैं दृष्टि डालता हूँ और देखता हूँ कि मैं कवि की अपेक्षा कहानीकार अधिक बन गया हूँ तो कभी-कभी सोचता हूँ कि मैंने कहीं अपने विचारों को गद्य का आवरण पहनाने में भूल तो नहीं की, कि यदि मैं अपने साहित्य को काव्य ही तक सीमित रखता तो क्या अच्छा न होता ? और यह सोचते-सोचते लड़कपन के वे दिन मेरे सामने घूम जाते हैं, जब मेरी कल्पना में बाढ़ पर आई हुई नदी का-सा वेग था; मैं निरन्तर सपने देखता था और निरन्तर लिखता था। लिखता मैं अब भी हूँ और कदाचित् स्वप्न भी देखता हूँ (क्योंकि जिस समय कलाकार स्वप्न नहीं देखता, वह मर जाता है) पर अब उनमें वह पहली-सी मस्ती और वेग कहाँ !

अपने साहित्यिक जीवन का आरम्भ मैंने एक कवि के रूप में किया। पाँचवीं अथवा छठी श्रेणी ही से मुझे काव्य से लगाव हो गया था। पाठ्य-पुस्तकों में जितनी भी कविताएँ होतीं, वे मुझे सब-की-सब कंठस्थ हो जातीं। उन दिनों हमारी पुस्तकों में प्राकृतिक दृश्यों अथवा दूसरे विषयों पर प्यारी-प्यारी नसीहत भरी

कविताएँ होती थीं। यद्यपि कभी-कभी अल्लामा 'इकबाल' की भी कोई-न-कोई कविता पढ़ने को मिल जाती, अधिकांश मुन्शी सूरजनारायण 'मेहर' द्वारा लिखी होतीं। मुन्शीजी की कविताओं में 'गुलाब' पर उनकी कविता की एक पंक्ति—

'खुशबू भीनी-भीनी है देखो, खुशबू भीनी-भीनी है'

और 'आज का काम कल पर न छोड़ो' शीर्षक उनकी कविता का एक बन्द—

दवा मैंने माना कि कड़वी बड़ी है,
प्याले में लेकिन यह कब की पड़ी है,
लगाओ न कुछ देर बस पी ही डालो।

मुझे आज भी याद है। अल्लामा 'इक़बाल' की कविता 'बुलबुल की फ़रियाद' मुझे बड़ी अच्छी लगती थी। और मुझे स्मरण है कि कंठ में दर्द और लय का अभाव होने पर भी मैं सारा-सारा दिन गाता रहता था :

आता है याद मुझको गुज़रा हुआ ज़माना
वे झाड़ियाँ चमन की, वह मेरा आशियाना

उन्हीं दिनों लाहौर से 'आर्य-भजन-पुष्पांजलि' निकलनी आरम्भ हुई। मैं एक आर्य स्कूल में पढ़ता था। उसका पहला संस्करण किसी सहपाठी के पास देख, किसी-न-किसी प्रकार पैसे जोड़कर उसे खरीद लाया। यहीं से मेरी कविता का आरम्भ हुआ। उन भजनों को देख-देखकर और उनकी नकल में तुक-से-तुक मिलाकर मैं भजन लिखता रहा। दाबा (व्यास और सतलुज के मध्य का प्रदेश) में काव्य तथा संगीत-कला का बड़ा ज़ोर है। गाँवों की बात मैं नहीं जानता, पर नगरों के प्रत्येक मुहल्ले में कोई-न-कोई गलेबाज, बैतबाज, ग़ज़लगो अथवा संगीतज्ञ मिल जायगा। जालन्धर में प्रत्येक वर्ष बड़े दिनों में, वहाँ के पुराने संगीतज्ञ हरबल्लभ की स्मृति में मेला लगा करता था,

जहाँ भारत-भर के पक्के गवैये आया करते थे। तीन दिन तक यह संगीत-समारोह रहता और 'देवी तालाब' पर खूब रौनक होती।

क्योंकि संगीत के तान पलटों को समझना मेरे बस के बाहर की बात थी और उर्दू ग़ज़ल को समझने का अभी शऊर न आया था, फिर वहाँ टिकट भी लगता था, इसलिए मैं उस जगह चला जाता, जहाँ द्वाबा-भर के पंजाबी कवि एक दूसरे के मुक़ाबले में बैतबाजी करते। (बैत चार पंक्तियों की पंजाबी कविता को कहते हैं और बैत कहने वाले बैतबाज कहाते हैं।) पंजाबी में होने के कारण ये बैत न केवल समझ में आते थे, वरन् अच्छे भी लगते थे। इन्हीं बैतों को सुन-सुनकर मैं स्वयं अपनी अध-कच्ची भावनाओं को बैतों का रूप देने लगा। मैं आठवीं श्रेणी में पढ़ता था जब होली के त्योहार पर एक पंजाबी कवि-सम्मेलन में एक कविता पढ़ने पर मुझे एक चाँदी का पदक इनाम मिला। इस पुरस्कार से मेरा बड़ा उत्साह बढ़ा और मैंने बड़ी-बड़ी लम्बी पंजाबी कविताएँ लिखीं। आज मुझे केवल एक कविता का एक चरण याद रह गया है :

किते जा ते बैठ के विच्च सुञ्जे
असाँ अपना आप परचायीदा ऐ
कोई सुने न अपनी गल्ल भावें
असाँ दिल नूँ दोस्त बनायीदा ऐ
ओसे आख सुना, ते सुन ओहदी
ओसे ताईं ही असाँ रिझायीदा ऐ
होया की, जे दोस्ता अक्ख फेरी
ते कहर डुड्डिया केहड़ी खुदाईदा ऐ

साडा दिल ते 'अश्क' ऐ नाल साडे
ओहदे नाल ही गम्म बटायीदा ऐ[1]

परन्तु इन पंजाबी बैतों का शौक अधिक समय तक न रहा। एक-डेढ़ वर्ष बाद ही मैं पंजाबी में बैत कहना छोड़कर उर्दू में ग़ज़ल कहने लगा। अपनी पहली ग़ज़ल मैंने मुशायरा-ए-गिरामी की पहली मजलिस में पढ़ी, जो मेरे उस्ताद जनाब 'आज़र' जालंधरी के एडवोकेट मित्र की कोठी पर हर पन्द्रहवें दिन होता था। समस्या थी—

हाल है ज़ार किसी शोख के सौदाई का

इस ग़ज़ल के कुछ शेर मुझे अब भी याद हैं—

बस इसी बात पै दावा था मसीहाई का
दम तेरे सामने निकला तेरे शैदाई का
सब मुझे जान गए, सब मुझे पहचान गए
फायदा कुछ तो हुआ इश्क में रुसवाई का
बन गया देखते-ही-देखते गोया तस्वीर
हाल यह है तेरी सूरत के तमाशाई का
कब इसे होश है दीवार से सर फोड़ मरे
हाल है रहम के क़ाबिल तेरे सौदाई का
जेबो-दामन के किये दस्ते-जुनूँ ने टुकड़े
हाल है ज़ार किसी शोख़ के सौदाई का

---

१ कहीं एकान्त में जाकर हम अपने दुखी दिल को सान्त्वना देते हैं। कोई दूसरा चाहे हमारी बात न सुने, हम अपने दिल को दोस्त बनाते हैं। उससे अपनी कहकर और उसकी सुनकर हम उसे रिझाते हैं। क्या हुआ यदि मित्रों ने आँखें फेर लीं (उनके आँख फेरने से कोई प्रलय नहीं टूट पड़ा।) क्योंकि ऐ 'अश्क', हमारा दिल तो हमारे साथ है और उसके साथ हम अपना सभी दुःख-दर्द बटा लेते हैं।

अब तो बरपा है खयालात का महशर ऐ 'अश्क'
आलमे-हश्र है आलम तेरी तन्हाई का

पंजाबी बैतों को छोड़कर ग़ज़ल की ओर झुकने का विशेष कारण था। द्वाबा की पंजाबी शायरी उस समय रँगरेजों, अर्थात् कपड़े रँगने वालों, नेचेबन्दों अर्थात् हुक्के के नले बनाने वालों, मोटर तथा ताँगा-ड्राइवरों, कोयला और सब्जी-फ़रोशों और ऐसे ही दूसरे लोगों के हाथ में थी। द्वाबा-पंजाबी-कवि-सभा के प्रधान जनाब उम्रदीन 'उलफ़त' पंजाबी कविता के उस्ताद होने के साथ-साथ उस्ताद रँगरेज़ भी थे। यदि मुझे पंजाबी कविता में सफलता पाना अभीष्ट होता तो इन्हीं में से किसी उस्ताद की शागिर्दी करनी पड़ती, और यह बात कदाचित् (अनजानेपन ही में) मेरी वर्ग-भावना को स्वीकार न हुई। सातवीं-आठवीं ही में मुहल्ले के एक कवि श्री काश्मीरीलाल 'अश्क' के संसर्ग से मुझे उर्दू शायरी से लगाव हो गया था। तब शेर समझ में न आते थे पर मैट्रिक तक पहुँचते-पहुँचते ग़ज़ल मेरी समझ में आने लगी। हाई क्लासिज़ में बैतबाज़ी कुछ घटिया-सी चीज़ गिनी जाती थी। इसलिए मैं 'क़ैस' जालंधरी के सौजन्य से (जो मेरे बड़े भाई के मित्र थे) जालंधर के प्रसिद्ध कवि जनाब 'आज़र' जालंधरी की सेवा में उपस्थित हुआ और उन्हें अपनी ग़ज़लें दिखाने लगा।

परन्तु शीघ्र ही मैं ग़ज़लें छोड़कर कहानियाँ लिखने लगा। बात यह थी कि उन दिनों लिखने का कुछ ऐसा उन्माद-सा छाया रहता था कि दिन में दो-दो ग़ज़लें हो जातीं। मैं अपने स्कूल से घर आकर, खाना-पीना भूलकर, पुस्तकें मेज़ पर पटक, नई ग़ज़ल लेकर उस मार्ग में जा खड़ा होता, जहाँ से 'आज़र' साहब गुज़रा करते। वे द्वाबा हाई स्कूल में उर्दू, फ़ारसी और ड्राइंग के अध्यापक थे; वे बस्ती गज़ाँ में (जो उनके स्कूल से चार-छः

मील के अन्तर पर थी) रहते थे और स्कूल से बस्ती के अड्डे तक दो-ढाई मील का फासला पैदल ही तै किया करते थे। मैं कई बार अड्डा होशियारपुर और कई बार माई हीराँ के दरवाजे पर जाकर उनकी प्रतीक्षा करता। जब वे आते तो उनके साथ-साथ बस्ती के अड्डे तक जाता और झिझकते-झिझकते अपनी नई ग़ज़ल उन्हें देता। मैं आशा रखता कि वे दूसरे ही दिन ग़ज़ल ठीक करके लौटा देंगे। परन्तु दूसरा दिन तो दूर रहा। कई बार वे सात-सात दिन तक ग़ज़ल देखकर न लाते और कई बार ग़ज़ल देखना भूल ही जाते। मेरा शौक तो जैसा मैंने कहा, बाढ़ पर आयी हुई नदी का-सा था। मार्ग न मिलने पर दूसरी ओर बह निकलना अनिवार्य था।

'आज़र' साहब के शागिर्दों में बहुत से लड़के थे। उन्हीं में मेरे एक मित्र 'अख़्तर' भी थे। 'अख़्तर' उनका उपनाम था, नाम नहीं। स्कूल तो हमारे अलग अलग थे। वे गवर्नमेंट हाई स्कूल में पढ़ते थे और मैं दयानन्द एंग्लो संस्कृत हाई स्कूल में। पर काव्य और हाकी-प्रेम हम दोनों में एक-जैसा था। उनके मुहल्ले में मेरा एक मित्र भी रहता था। फिर उस्ताद[1] में भी साझा हो गया। हम अवकाश का अधिकांश समय इकट्ठे रहते। कवि-सम्मेलनों में साथ-साथ जाते। द्वेष तो नहीं; पर एक दूसरे से स्पर्धा अवश्य रखते।

मुझे इस स्वीकारोक्ति में संकोच नहीं कि 'अख़्तर' न केवल स्वास्थ्य में मुझसे अच्छे थे वरन् पढ़ने भी बड़ी अदा से थे।

---

१ उस्ताद का मतलब अध्यापक न लिया जाय। अध्यापकी से उस्तादी का कोई सम्बन्ध नहीं। जिस कवि का एक भी शागिर्द हो जिसकी कविता वह सुधारता हो, वह अपने-आपको उस्ताद कह सकता है।

मेरे चेहरे पर तो स्कूल के दिनों में यतीमी बरसती थी—आकृति पर कुछ अज्ञात-सा सहम, घुटा हुआ सिर, तंग माथा, लम्बी चोटी, टखनों से ऊँचा उटुङ्ग पायजामा, पाँव प्रायः नंगे—पढ़ लेता और दाद भी पाता, परन्तु 'अख़तर' के हाव-भाव और तर्ज़ का मेरे यहाँ अभाव था।

'अख़तर' सदैव छैला बने रहते। .वपन्नता तो उनके यहाँ कदाचित् मेरे घर की अपेक्षा कहीं अधिक थी, परन्तु उन्हें पहनने का ढंग आता था—विशेषकर मित्रों की चीज़ें पहनकर अपनी छवि को द्विगुन करने का—वे गाते न थे, पर पढ़ते ऐसा थे कि अनायास ही दाद देने को जी चाहता।

मैं निश्चित रूप से 'अख़तर' की अपेक्षा अच्छा लिखता। कई बार तो मैं ही उन्हें लिखकर देता। उन्हीं शेरों की दाद जब उन्हें मिलती तो मुझे प्रसन्नता भी होती और दुःख भी।

'आज़र' साहब मेरी ग़ज़लों को बड़े इतमीनान से भुला देते, परन्तु 'अख़तर' की ग़ज़लें तत्काल ठीक कर लाते, बल्कि स्वयं ही उन्हें ग़ज़ल लिखकर ला देते। मैं दूसरे की चीज़ को अपने नाम से कभी पढ़ना पसन्द न करता था, इसलिए मैंने 'आज़र' साहब से कभी ग़ज़ल लिखकर देने की माँग न की, परन्तु मेरी यह इच्छा सदैव रही कि मैं जो ग़ज़ल उन्हें दूँ, उसे दूसरे-तीसरे दिन ही ठीक करके वे मुझे दे दिया करें। 'आज़र' साहब कभी ऐसा न करते। मैं रोज माई हीराँ के दरवाज़े पर उनके रास्ते में जा खड़ा होता, मील-डेढ़ मील पैदल उनके साथ-साथ जाता और रोज़ निराश लौटता। झुँझलाता, पर संकोचवश मुँह से कुछ न कहता। उन्हीं दिनों जब उन्होंने मेरी दो-एक ग़ज़लें गुम ही कर दीं, मैंने फ़ैसला किया कि मैं कहानियाँ लिखूँगा, जिन्हें न किसी को दिखाने की आवश्यकता रहेगी, और न किसी से संशोधन कराने की।

पहली कहानी, जो मैंने इस फैसले के तत्काल बाद लिखी, उसका नाम था 'याद हैं वे दिन'! कहानी उर्दू में थी, क्योंकि उस समय पंजाब में हिन्दी का नाम भी न था। उर्दू के भारी-भरकम शब्द इस कहानी में यत्र-तत्र अनघड़ नगीनों-से जड़े थे। 'याद हैं वे दिन' ही को मैं अपनी पहली कहानी कहूँगा। क्योंकि यद्यपि इससे पहले भी मैंने गद्य में लिखने का प्रयास किया था और जब आठवीं श्रेणी में पढ़ता था तो एक जासूसी उपन्यास तक लिखने की कोशिश की थी, परन्तु कोई चीज़ सिरे न चढ़ी थी। यह पहली कहानी थी जो मैंने पूरी-की-पूरी लिखी। कहानी के आरंभ की चन्द पंक्तियाँ देखिए—

"याद हैं वे दिन जब सुबह के वक्त, इधर आफ़ताब अपनी सुनहरी किरणों से सारे जहान को रोशन कर देता, उधर तू अपनी चाँद-सी सूरत लिये, सिर पर घड़ा उठाये, नाज़ो-अदा से कुएँ पर आती। मैं तुम्हें उलफ़त से देखता, हाँ···हाँ मुहब्बत से देखता।"

इस कहानी का 'मैं' एक देहाती युवक है जो अपने गाँव की एक लड़की से प्रेम करता है। जब वह कुएँ पर घड़ा भरने जाती है, तो कहीं छिपकर उसके दरस से अपनी आँखों की प्यास बुझाता है। पंजाबी में जिसे 'चक्कर भौं' अर्थात् चक्कर खाने वाला प्रेमी कहते हैं, कुछ उसी प्रकार का वह आशिक़ है। लड़की भी उसकी ओर आकर्षित होती है। उसे दरस ही का नहीं परस का भी अवसर प्राप्त होता है। परन्तु क्रूर नियति को (वहाँ तो शब्द 'फ़लके नाहंजार' है) क्योंकि प्रेमियों का मिलन-सुख एक आँख नहीं भाता, इसलिए उस साँझ के दूसरे ही दिन, जब उसे अपनी प्रेयसी का मिलन-सुख पाने का अवसर मिलता है, उसकी सगाई उसके प्रतिद्वन्द्वी से हो जाती है। प्रेयसी ऐन शादी के अवसर पर छुरा भौंककर मर जाती है और मरते-मरते अपने

प्रेमी से कहती है कि वह स्वर्ग में उसकी प्रतीक्षा करेगी और प्रेमी महोदय वही छुरा लेकर निर्जन की ओर चल देते हैं! अन्तिम पंक्तियाँ देखिये—

"मैं सोया, आवाज़ आई—'जन्नत में आपकी मुन्तज़िर रहूँगी।' घबराकर उठा। हवा का एक झोंका आया। उसकी सरसराहट में वही अलफ़ाज़ सुनाई दिए, 'जन्नत में आपकी मुन्तज़िर रहूँगी।' मुझे निराश न होना चाहिए। मेरी प्यारी जन्नत में मेरा इन्तज़ार कर रही है। ऐ खंजर! ऐ मेरी प्यारी के क़ातिल खंजर! आ, आ और मेरे सीने में दूर तक डूब जा और मुझे भी वहीं पहुँचा दे जहाँ ...."

और कहानी समाप्त हो जाती है।

आज मुझे इस कहानी को पढ़कर हँसी आती है, परन्तु उस समय मैं इसे अपना 'मास्टर-पीस' समझता था। बहरहाल 'अख़्तर' ने जब यह कहानी सुनी तो उन्हें बहुत पसन्द आई। उन्होंने कहा, "आओ हम इस पर कविता लिखें" और हम दोनों ने मिलकर इसे नज़्म किया। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इस पर विशेष परिश्रम मुझीको करना पड़ा। जब पूरी-की-पूरी कहानी कविता-बद्ध हो गई तो 'अख़्तर' उसे 'आज़र' साहब के पास ले गए। उन्होंने न केवल उसमें सुधार किया वरन् बीसियों शेर बढ़ा दिए। 'अख़्तर' ने उसे अपने नाम से लाहौर के प्रसिद्ध उर्दू साप्ताहिक 'गुरू घंटाल' के विशेषांक के लिए भेज दिया। उन दिनों पंजाब की साहित्यिक तथा पत्रकार-दुनिया में 'गुरू-घंटाल' का बोल-बाला था और वह पत्र हमारी कल्पना का चरम-शिखर था। मुझे पूरी आशा थी कि वह कवितामय कहानी 'गुरू घंटाल' के विशेषांक में कभी न छप पायगी। परन्तु दूसरे ही सप्ताह जब 'अख़्तर' 'गुरूघंटाल' का विशेषांक लाये तो उसमें

पूरे दो पृष्ठों पर मसनवी की तरज़ में लिखी हुई वह पद्य-कथा छपी थी।

मुझे भली-भाँति स्मरण है, मैं उस रात एक पल को भी न सो सका। मेरी माँ ने मेरे सिर में एक-दो बार खशखाश का तेल भी लगाया मेरी कनपटियाँ भी सहलाईं, परन्तु जब वे रात के पिछले पहर फिर उठीं तो मैं पूर्ववत् जाग रहा था। तब उन्होंने चिन्ता के स्वर में पूछा, "क्या बात है, तू सो क्यों नहीं रहा।" मैंने कहा, "मैं क्या बताऊँ, तुम समझ न पाओगी।"

इसी कहानी से एक प्रकार मेरी शायरी खत्म और कहानी शुरू होती है। गज़ल तो सेकिंड इयर तक चली, पर वह उत्साह न रहा। इस कहानी के छपने से (चाहे 'अखतर' के नाम ही से सही) मुझे इस बात का विश्वास हो गया कि मेरी चीजें छप भी सकती हैं। इसलिए मेरा वह निश्चय कि गद्य में लिखूँगा और भी पक्का हो गया। मैंने एक और सामाजिक कहानी लिखी और उसे दैनिक 'प्रताप' लाहौर के संडे-एडीशन में भेज दिया। उसी सप्ताह वह छप गई। फिर तो 'प्रताप' के संडे-एडीशन में 'बाबू उपेन्द्रनाथ अश्क जालंधरी' की कहानियाँ नियमित रूप से छपने लगीं। कहानियोंके शीर्षक मेरे नाम ही की भाँति खासे हास्यास्पद होते। जैसे—'सीरत की पुतली उर्फ बावफा बीवी' अथवा 'शहीदे नक़ाब उर्फ पर्दे की बला', 'मुझे मिला—वह कौन' आदि-आदि। किन्तु उन दिनों वही अद्वितीय लगते थे। मैं अपने-आपको महान् कहानी-लेखक समझता था। 'अख़तर' अपने मुकाबले में मुझे अकिंचन दिखाई देने लगे थे और इन कहानियों के छपने से मेरा हीन-भाव सर्वथा विलुप्त हो गया था।

किन्तु इनमें से एक भी कहानी किसी संग्रह में शामिल नहीं हो सकी—कालेज के दिनों में छपने वाले संग्रह में भी नहीं!

स्कूल के दिनों में लिखी चीजें कालेज तक जाते-जाते मेरी दृष्टि से उतर गई थीं।

माई हीराँ के दरवाजे पर जाकर 'आज़र' साहब की प्रतीक्षा करना मैंने छोड़ दिया था और क्योंकि लिखने के जोश में कमी न आई थी इसलिए ग़ज़लें छोड़कर दिन-रात कहानियाँ लिखने लगा।

पंजाब के साहित्यिक क्षेत्र में कहानी-लेखक के रूप में कुछ ख्याति पाने पर जब मैं अपने पहले विवाह पर बस्ती गज़ाँ गया तो 'आज़र' साहब से भी मिला। बातों-बातों में उन्होंने शिकायत की, "तुमने ग़ज़ल लिखना क्यों छोड़ दिया मुझे तुमसे बड़ी उम्मीदें थीं।"

मैं चुप रहा। उन्हें क्या उत्तर देता?

२२

श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी

श्री बेनीपुरी हिन्दी के जाने-माने पत्रकार और गद्यकार हैं। आपकी शैली सर्वथा अपनी है। छोटे-छोटे वाक्यों में आप जो बात लिखने की क्षमता रखते हैं वह हिन्दी में तो क्या भारत की किसी भी भाषा में ढूँढने से उपलब्ध नहीं होगी। सदा से ही आप जीवन में शौर्य, वीर्य, प्रभुता तथा प्रताप के प्राणदायक सन्देश के उन्नायक, उद्घोषक कलाकार के रूप में विख्यात रहे हैं। आपका गद्य देखने, पढ़ने और समझने की वस्तु होता है। आपकी कलम में वह जादू है, जो निष्क्रिय तथा जड़ पदार्थों में भी जीवन फूँक देने की क्षमता रखता है। आप 'नई धारा', 'हिमालय', 'योगी', 'युवक', 'जनता' तथा 'बालक' के सम्पादक के रूप में हिन्दी-जगत् में पर्याप्त ख्याति अर्जित कर चुके हैं।

मैं कैसे लिखता हूँ ?

कुर्सी-टेबल पर लिखना मुझे पसंद नहीं। चौकी हो, उस पर गद्दा हो, साफ चादर हो, तकिया हो जिसे मैं छाती से चिपकाये रहूँ, इस तरह अधलेटे-अधलेटे लिखना मुझे पसंद है। बँधी कापियों में मेरी प्रतिभा जैसे बँध जाती है। पैड हो और वह भी बिना रूल का तो और अच्छा। बंधन में रहना या लकीरों पर चलना मुझे कभी पसंद नहीं आया है। लिखते समय मेरे विचारों और मेरी लेखनी में जैसे होड़-सी लग जाती है—विचार जैसे चेल्हवा मछली—तड़पती, उछलती, चमकती; लेखनी जैसे जाल—छोटे घेरे का, कच्चे सूत का। जाल में आने के पहले ही, माँझी को ललचाकर, जैसे मछली निकल भागना चाहती हो। किन्तु माँझी उसे छोड़े तो कैसे ? इसलिए बहुत तेज लिखता हूँ—व्याकरण तक की सुधि मुझे नहीं रहती है उस समय। पीछे गोद-गाद कर लिया करता हूँ। इस तेज रफ्तारी के कारण जब तक होल्डर रोशनाई से लिखता रहा, बड़ी दिक्कत होती थी। अब शेफर-फाउण्टेनपेन से लिखा करता हूँ—सर-सर, सर-सर। और, लिखते समय सामने—सामने सिगरेट का टिन हो और पान के कुछ बीड़े ! मैं कहा करता हूँ, माँ-भारती को धुआँ पसंद है। पहले वह यज्ञाग्नि के धुएँ पर पधारती थीं, अब इस बीसवीं सदी में उन्हें सिगरेट का धुआँ भाने लगा है। आप विश्वास न करें, किन्तु जब सिगरेट का धुआँ गिर्दाव बनाता हुआ ऊपर उठता है, तब मैं देखता हूँ, मेरी वीणापाणि उस पर थिर-कती हुई पधार रही हैं। और जब पान के बीड़े मुँह में घुलते हैं, तो मालूम होता है, हृदय की सारी अनुभूतियाँ पिघलकर

मेरी लेखनी की राह से कागज पर मूर्त रूप धारण करती जा रही हैं !

अच्छी चीजें या तो मैंने भोर में लिखी हैं, या निस्तब्ध रात्रि में। यों तो रात में मैं देर तक जगता हूँ—मेरा कहना है, जब आधी रात के बाद तारीख बदल जाय, तब सोओ। एक तारीख को सोओ और दूसरी को जगो—दो-दो दिनों का एक साथ सोना; राम राम ! किन्तु देर तक जगने के बाद भी जब सोने जाता हूँ, दिमाग़ कुछ देर तक उधेड़-बुन में रहता है और कभी-कभी उसी समय बिछावन छोड़कर कुछ लिखने लगता हूँ। डर लगता है, कॉलरिज के 'कुबला खाँ' की तरह, कल होते-होते, कहीं इस चित्र को भूल न जाऊँ या यह अधूरा ही न रह जाय। भोर में देर से उठता हूँ और डटकर 'जल-खई' खाकर लिखने बैठ जाता हूँ और एक-सुर में तीन-चार घंटे तक लिखता जाता हूँ। किन्तु, यह अपने कलाकार बेनीपुरी के बारे में कह रहा हूँ, पत्रकार बेनीपुरी तो दफ्तर के हो-हल्ले में, जब टेबुल के इर्द-गिर्द तरह-तरह के लोग बैठे हों और कान में मशीन की घर्र-घर्र आ रही हो, लिखा करता है। और, ज्यों ही कुछ 'चीज' तैयार हुई, मित्रों को सुनाये बगैर जैसे मेरा पेट फूलने लगता है ! निकट जो रहा, उसे ही सुना देता हूँ। कभी-कभी उच्चकोटि की कला-कृति एक ही साँस में किसी भोंदू मित्र को सुनाकर कैसी तृप्ति की साँस ली है मैंने !

मौसम के हिसाब से मुझे बरसात पसन्द है। जाड़े में जैसे प्रतिभा सिकुड़ जाती है और गर्मी में फैलकर बिखर-सी जाती है ! जब सारा बदन रजाई में रहना चाहिए, तो हाथ निकालकर कौन क़लम घिस-घिस करे और जब पसीने से काग़ज़ गीला होता जाय तो उस पर स्याही कौन पोते ! बसन्त की रंगीनी में मैं सब-कुछ भूल जाता हूँ और शरद की रजतिमा मुझमें अजीब

सुहाता ला देती है। बस मैं अपने फ़ार्म में रहता हूँ, तो बरसात में। ईशा ने कहा था—"बादल से चले आते हैं मजमूँ मेरे आगे!" मैं यों कह सकता हूँ—"बादल पे चले आते हैं मजमूँ मेरे आगे!" कालिदास का 'मेघदूत' असाढ़ में शुरू हुआ था; मेरी 'अम्बपाली' सावन में, और उसकी दो पृष्ठ की भूमिका के लिए तीन सावनों की प्रतीक्षा करनी पड़ी थी मुझे।

जब मैं गति में होता हूँ, तो मेरा हृदय और मस्तिष्क दोनों गति में होते हैं—पल-पल बदलने वाली दृश्यावली और परिस्थितियाँ जैसे मेरी प्रतिभा को पंख दे देती हैं! अपनी सभी सुन्दर कलाकृतियों की रूप रेखाएँ सफ़र में ही तैयार की हैं मैंने—चाहे जब मैं रेल पर हूँ, या मोटर में, साइकिल पर या बैलगाड़ी पर! गंगा पार करते समय जब-जब एकाध घंटे के लिए जहाज़ पर रहा हूँ, किसी-न-किसी सुन्दर चीज़ की कल्पना मैंने की ही है! कहा जाता है, बर्नार्डशा अपने नाटक दोतल्ले बस के ऊपर बैठकर क्षिप्र लिपि में लिखा करते हैं। क्षिप्र लिपि मैं नहीं जानता; फिर ऐसे मौक़ों पर इतना भावना-विभोर रहता हूँ कि काग़ज़ क़लम निकालने का जी भी नहीं करता। हाँ, निश्चित स्थान पर पहुँचकर कभी-कभी कुछ नोट कर लिया करता हूँ और फिर निश्चिन्त होने पर उसमें रंग भरता हूँ। किन्तु ज़्यादातर तो उसे अपने मस्तिष्क के किसी कोने में ही डाले रहता हूँ और जब बस पर लेखनी उठाता हूँ, तो आश्चर्य से पाता हूँ, मेरे मस्तिष्क ने मेरी धरोहर को कितना सुरक्षित रखा था। पैदल चलते समय भी मेरे मन में तरह-तरह की बातें उठा करती हैं और यदि मैं बम्बई या कलकत्ता में होता, तो कभी का किसी गाड़ी के नीचे कुचलकर मर गया होता! मैं जो बड़े शहरों से घबराता हूँ और पटना की गलियाँ मुझे पसन्द हैं, तो शायद इसी आत्म-रक्षा की भावना से ही!

पहले किसी खास प्रसंग, घटना या दृश्य से स्फुरण पाकर ही मैं लिखता था; किन्तु अब तो लिखना मेरी आदत में शुमार हो चुका है। कुछ न लिखूँ, तो एक अभाव अनुभव करने लगता हूँ—जैसे कोई नेता बिना कुछ बोले, बिना कुछ सन्देश दिए या उपदेश दिए—रह नहीं सकता; उसी तरह की मेरी हालत तब हो जाती है, जब मैं कुछ लिखता नहीं। और मेरे मस्तिष्क में भिन्न-भिन्न यात्राओं में संचित किये इतनी धरोहर रखी हैं कि मैं सात जन्म लिखा करूँ, तब भी वे शायद खाली न हों। मुझे उन पर तरस आता है जिन बेचारों को लिखने के लिए विषय ढूँढ़ने पड़ते हैं, या मिलते ही नहीं। मेरा रोना तो यह है कि आह, मेरे मस्तिष्क में इतनी चीजें भरी पड़ी हैं—मुझे फुरसत नहीं मिलती कि मैं उन्हें क़लमबन्द करूँ। लगभग ६५ पुस्तकें लिख जाने के बाद भी कम-से-कम पचास छोटे-बड़े स्केच, दो दर्जन कहानियाँ और एकांकी, एक दर्जन नाटक और आधे दर्जन उपन्यास मेरे मस्तिष्क में खाँव-खाँव मचाये रहते हैं।

क्षिप्र वेग से लिखने के कारण शब्दों के चुनने या मुहावरों के बनाने की ओर मैंने कभी ध्यान नहीं दिया। लेकिन, तो भी, अनायास ऐसे शब्द और ऐसे मुहावरे आ जाया करते हैं, जिन्हें देखकर मैं स्वयं आश्चर्य में पड़ जाया करता हूँ। विचारों की भी यही हालत है। मैं हाथ में क़लम लेकर लिखना शुरू कर देता हूँ, और नये-नये विचार नये-नये मुहावरों और शब्दों में सज-धज कर, मेरी क़लम की नोक से उतरने लगते हैं! वे विचार मेरे दिमाग़ में कहाँ थे,—वे कहाँ से आकर मस्तिष्क के किस निभृत कोने में जा बैठे थे? या वे उसी टकसाल में ढले हैं—बाहर सोने-चाँदी के ठप्पे-मात्र थे, टकसाल में जाकर गोल-गोल, सुन्दर-सुन्दर, नये बेल-बूटों से सजे और नई क़ीमत की छाप लेकर निकल आए हैं! हाँ, लगता है, जैसे उन्हें कभी देखा

हो—सपनों की सुन्दरियों की तरह—अवगुण्ठनवती, कुहेलिका-मयी ! जैसे वे स्वप्न-सुन्दरियाँ घूँघट हटाकर मेरे सामने आकर आज मुझी पर मुस्करा रही हों ! सच कहता हूँ, अपनी रचनाओं ने मुझे कम विस्मित नहीं किया है।

स्केच, नाटक, कहानी या उपन्यास लिखने के समय मन-ही-मन एक ढाँचा बनाया जरूर; लेकिन जब समाप्त किया, वे उन ढाँचों से बहुत दूर पड़ गए थे। उनके पात्र या पात्रियाँ जैसे मुझसे अपनी बात लिखवा रहे हों, मानो वे मुझसे कहते हों, जब तक मैं तुम्हारे मस्तिष्क के गर्भ में पलता रहा, तुम्हारा रहा; अब जब बाहर आया, तो मुझे अपना विकास आप करने दो। मेरे एक मित्र ने एक बार कहा था, मैं अपने बच्चों के लिए उनका Your most obedient father हूँ। अपनी रचनाओं के प्रति भी मैं वैसा ही आज्ञाकारी पिता हूँ। मेरी बुधिया, मेरा बलदेवसिंह, मेरी अम्बपाली, मेरी संघमित्रा, वही नहीं हैं जिनकी कल्पना-मूर्तियाँ मैंने पहले तैयारकर रखी थीं। नहीं, ये मेरी मानसिक सन्तानें आप बढ़ी हैं, आप बनी हैं। मैंने उनकी वृद्धि में भी मदद-भर कर दी है !

'अम्बपाली' में जब अरुणध्वज की मृत्यु के बाद मधूलिका जाने लगी और बोली—'मैं चली अम्बे; मैंने इसकी जिन्दगी ढोई, अब तू लाश ढो'—'हाँ, जो जिन्दगी नहीं ढोता उसे लाश ढोनी पड़ती है अम्बे !' तो मैं सच कहता हूँ, यह लिख जाने के बाद मैं स्वयं विस्मय-विमुग्ध बन गया था ! मधूलिका, यह भोली लड़की, मैंने तो इसका निर्माण किया था 'अम्बपाली' के चरित में रंग भरने के लिए। अरे, यहाँ आकर तो यह खुद एक चरित बन गई और तब से सारा नाटक उसके इस कथन पर ही चक्कर काटता रहा ! और जब 'अम्बपाली' ने कहा—'मधु, आह, तू जान पाती कि मैंने जिन्दगी भी लाश ही की तरह ढोई

है !' तब तो मुझे ऐसा लगा कि कलाकार एक यंत्र-मात्र होता है—उसकी कला-कृतियाँ उसे जैसा चाहें नचा सकती हैं। नट चला था कठपुतलियाँ नचाने; कठपुतलियों ने उसे ही नचा छोड़ा।

यह बात मैंने लेखों के बारे में भी पाई है। मैंने जो अच्छे लेख लिखे—सम्पादकीय टिप्पणियाँ तक—जिन्हें प्रान्त के कोने-कोने के नौजवान रटे हुए हैं, वे भी कुछ इसी तरह लिखे गए। थोड़ी देर सोचा, एक शीर्षक ठीक किया, फिर लिखना शुरू किया—बस, उस शीर्षक के इर्द-गिर्द एक स्तूप-सा तैयार होता जाता है। सोच-समझकर मैंने उसकी नींव भर डाली थी; सारी इमारत तो आप-ही-आप तैयार हुई। हाँ, मैं मानता हूँ, असली चीज नींव ही है—किन्तु नींव ही इमारत नहीं है, यह भी तो एक प्रकट सत्य है।

कलाकार और कला-कृति के बीच के इस एक दूसरे को प्रभावित करनेवाले सम्बन्ध की मनोवैज्ञानिक जाँच-पड़ताल कुछ कम मनोरंजक वस्तु नहीं है। फ्रायड ने सपनों का विश्लेषण करके बड़ा नाम कमाया है—विश्लेषण के इस क्षेत्र की ओर भी मनोवैज्ञानिकों का ध्यान जाना चाहिए।

मेरी एक अपनी शैली है और वह शैली बहुत ही जोरदार है, ऐसा प्रायः कहा जाता है। श्रद्धेय मैथिलीशरण गुप्तजी ने एक-बार कहा था—"गणेशजी (स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी) के बाद आप ही की भाषा में मैंने वह जोर पाया।" सोचना यह है कि वह जोर गणेशजी की भाषा में कहाँ से आया था; और फिर वह मेरी भाषा में कहाँ से आ गया! शैली जीवन से पृथक् कोई वस्तु नहीं है। गणेशजी की शैली का स्रोत उनका बलिदानी जीवन है; मेरी शैली का स्रोत मेरा तूफानी जीवन रहा है। मेरी शैली में जो प्रवाह है, गति है, वह मेरी जिन्दगी में है।

वकालत या प्रोफेसरी की कुर्सी पर बैठकर आप उसे नहीं पा सकते; सिर्फ सम्पादक बन जाने या थोड़ी उर्दू पढ़ लेने से भी वह कहाँ प्राप्त हो सकता है ? मैंने अपना यौवन तूफानों में बिताया है, इसलिए आप मेरी शैली में हवा के वे झोंके पाते हैं जो बड़े-बड़े वृक्षों को उखाड़ दें, बिजली की वह चमक देखते हैं, जो आँखों को चकाचौंध में डाल दे। मैं मानता हूँ, उसमें गर्द-गुबार भी है—वहाँ आपका बूढ़ा व्याकरण पनाह माँगता है; वहाँ लँगड़े मुहावरे लुढ़कते दीखते हैं—किन्तु, इसमें मेरा क्या कसूर ? गति और गर्द साथ-साथ चलते हैं ! झरने का जल आपको पसंद न हो, तो कुए का पीजिए—बहुत से पनाले भी हैं।

मेरी परेशानी तो यह रही है कि अपने भीतर के तूफान को मैं कागज पर सही-सही उतार न सका। आँधी हवा का झोंका बनकर रह गई; बिजली चिनगारी में समा गई। आह, हमारे शब्दों में कितनी हीनता है, कितना अभाव है। वे अब तक न विचारों को सही रूप में प्रकट कर पाते हैं; न भावनाओं को। मस्तिष्क का कमल जिह्वा पर आते-आते कनेर बन जाता है। किन्तु बोलने के समय तो कुछ काम भी चल जाता है—शब्दों की हीनता को हम चेहरे की भाव-भंगिमा से हाथों के इशारे से, स्वर के उतार-चढ़ाव से कुछ-कुछ ढकने की कोशिश करते हैं; कुछ सफलता भी मिलती है इसमें। लेकिन कागज पर स्याही से उतरकर हमारे विचार, हमारी भावनाएँ सारी आग, सारी रंगीनी खो देती हैं ! उजले तुनुक कागज पर ज्वालामुखी का विस्फोट प्रकट करना; काली स्याही से इन्द्रधनुष की रंगीनियाँ चित्रित करना ! कितना कठिन ! इसीलिए कलाकार नये शब्द गढ़ता है, नये मुहावरे बनाता है, व्याकरण उसके आड़े आता है तो उसे आसमान में फेंक देता है ! आप उसे गालियाँ देते रहिये; उसने जिस किसी भी उपाय से एक नया चित्र—सही चित्र—बना लिया,

तो वह अपने को धन्य समझता है, समझा करेगा !

जैसा कह चुका हूँ, लिखने के समय मैं शब्दों पर ध्यान नहीं देता। अनायास जो शब्द आते हैं, मैं लेता जाता हूँ। और, मैं अपने शब्दों की वफ़ादारी का क़ायल हूँ—जैसा प्रसंग, वैसे ही शब्द आजाते हैं ! जहाँ 'जरूरत' की जरूरत होती है; वहाँ आवश्यकता झाँकने की भी गुस्ताखी नहीं करती ! और जहाँ 'आवश्यकता' की आवश्यकता है, वहाँ जरूरत मुझसे बहुत दूर खड़ी होती है ! शहरों के शब्दों के बनावटी रूप पर मैंने गाँवों के भोलेपन को हमेशा तरजीह दी है ! ग्रामीण शब्दों और मुहावरों का मैंने प्रचुर प्रयोग किया है। गाँव के वे अछूते, सूधे, सुथरे शब्द—कितनी जान है उनमें, कितना जोर है उनमें—वे कितने सुन्दर हैं, वे कितने बलवान हैं ! एक-एक शब्द—एक पूरे चित्र का प्रतिनिधित्व करता है। एक-एक मुहावरा—एक पूरी दुनिया छिपी है उसमें ! किन्तु जिनके पैर में महावर लगी है, वे देहातों में जायँ कैसे—इसीलिए एक तरफ पुराण के पन्ने उलटे जा रहे हैं; दूसरी तरफ कुरान की आयतें कोट की जा रही हैं। भाषा को भी अखाड़ा बना रखा है यारों ने !

एक मित्र ने एक बार कहा था—"बेनीपुरीके फुलिस्टाप और कौमा बोलते हैं !" क्या सच ? कहीं कौमा और फुलिस्टाप बोलते हैं ? लेकिन मैं कहूँ, अगर नहीं बोलते हैं, तो उन्हें बोलना चाहिए। बोलने के समय जो काम हम चेहरे की भाव-भंगिमा से लेते हैं। लिखने के समय वही काम हमें विराम-चिह्नों से लेना है। हिन्दी में इनकी संख्या सिर्फ पाँच-छः है, हास्य और विस्मय के लिए सिर्फ एक चिह्न। उनकी संख्या बढ़ानी होगी; लेकिन जब तक ऐसा नहीं होता, जो चिह्न हैं उनका प्रयोग तो होना ही चाहिए। मैं लिखते समय इन चिह्नों से खूब काम लेता हूँ और मैंने देखा है इनके प्रयोग से चीजें चमक उठती हैं।

फिर जिस तरह मैं बड़े-बड़े पेचीदा वाक्यों से भागता हूँ, उसी तरह बड़े-बड़े पैराग्राफों से। एक शब्द का भी मैंने वाक्य लिखा है—हाँ, एक शब्द एक पूरे चित्र को दे सकता है, जो एक वाक्य का काम है। यों ही एक पंक्ति के पैराग्राफों की भी मेरी रचना में भरमार है। छोटे छोटे शब्द, छोटे-छोटे वाक्य, छोटे-छोटे पैराग्राफ—देखने में सुन्दर, पढ़ने में आसान, समझने में कोई दिक्कत नहीं। नावक के तीर छोटे होते हैं, किन्तु घाव गम्भीर करते हैं! नावक के एक-मात्र अधिकारी बिहारीलाल ही नहीं थे; शायद जमाना कहेगा, किसी जमाने में कोई बेनीपुरी भी था।

Durga Sah Municipal Library,
Naini Tal,
दुर्गासाह म्युनिसिपल लाइब्रेरी
नैनीताल